

Chapter पाँच

समस्त कारणों के कारण

नारद उवाच

देव-देव नमस्तेऽस्तु भूत-भावन पूर्वज ।

तद् विजानीहि यज्ज्ञानमात्म-तत्त्व-निदर्शनम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—श्री नारद ने कहा; देव—समस्त देवताओं के; देव—देवता; नमः—नमस्कार; ते—तुमको; अस्तु—है; भूत-भावन—समस्त प्राणियों के जनक; पूर्व-ज—सर्वप्रथम जन्मा; तद् विजानीहि—उस ज्ञान को बताएँ; यत् ज्ञानम्—जो ज्ञान; आत्म-तत्त्व—दिव्य; निदर्शनम्—विशेष रूप से निर्देश करता है।

श्री नारद मुनि ने ब्रह्माजी से पूछा : हे देवताओं में प्रमुख देवता, हे अग्रजन्मा जीव, मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ। कृपा करके मुझे वह दिव्य ज्ञान बतायें, जो मनुष्य को आत्मा तथा परमात्मा के सत्य तक ले जाने वाला है।

तात्पर्य : परम्परा प्रणाली की पूर्णता की और भी पुष्टि हो रही है। पिछले अध्याय में यह स्थापना हुई थी कि आदि-जीव ब्रह्माजी ने सीधे परमेश्वर से ज्ञान प्राप्त किया और उन्होंने वह ज्ञान अगले शिष्य नारद को प्रदान किया। नारद ने ज्ञान प्रदान किये जाने की प्रार्थना की, तो ब्रह्माजी ने ज्ञान प्रदान किया। अतएव सही व्यक्ति से दिव्य ज्ञान के लिए याचना करना और सही ढंग से उसे प्राप्त करना परम्परा का विधान है। इस विधि की संस्तुति *भगवद्गीता* (४.२) में की गई है। जिज्ञासु शिष्य को चाहिए कि वह समर्पण, विनीत जिज्ञासा तथा सेवा द्वारा दिव्य ज्ञान प्राप्त करने के लिए सुयोग्य गुरु के पास जाय। इस तरह विनीत जिज्ञासा तथा सेवा द्वारा प्राप्त ज्ञान धन के बदले प्राप्त होनेवाले ज्ञान से अधिक प्रभावात्मक होता है। ब्रह्मा तथा नारद की परम्परा का गुरु कभी डालर तथा सेंट (रुपये-पैसे) नहीं चाहता। प्रामाणिक शिष्य को अपनी प्रतिष्ठावान् सेवा से उसे प्रसन्न करके आत्मा तथा परमात्मा के सम्बन्ध तथा स्वभाव का ज्ञान प्राप्त करना होता है।

यद्गुपं यदधिष्ठानं यतः सृष्टमिदं प्रभो ।

यत्संस्थं यत्परं यच्च तत् तत्त्वं वद तत्त्वतः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; रूपम्—लक्षण; यत्—जो; अधिष्ठानम्—पृष्ठभूमि; यतः—जहाँ से; सृष्टम्—उत्पन्न; इदम्—यह संसार; प्रभो—हे पिता; यत्—जिसमें; संस्थम्—प्रतिष्ठित; यत्—जो; परम्—वश में; यत्—जो हैं; च—तथा; तत्—इसका; तत्त्वम्—लक्षण; वद—कृपया वर्णन करें; तत्त्वतः—वास्तव में।

हे पिता, आप इस व्यक्त जगत के वास्तविक लक्षणों का वर्णन करें। इसका आधार क्या है? यह किस तरह उत्पन्न हुआ? यह किस तरह संस्थित है? और यह सब किसके नियन्त्रण में किया जा रहा है?

तात्पर्य : वास्तविक कारण तथा कार्य के आधार पर नारद मुनि द्वारा उठाये गये प्रश्न अत्यन्त तर्कसंगत प्रतीत होते हैं। किन्तु नास्तिक लोग स्वनिर्मित अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत करते रहते हैं जिनमें कारण-कार्य का लेशमात्र भी नहीं रहता। यह व्यक्त जगत तथा आत्मा, अब भी इन ईशविहीन नास्तिकों द्वारा प्रयोगात्मक ज्ञान के आधार पर, अविवेचित है, यद्यपि उन्होंने अपने उर्वर मस्तिष्क द्वारा निर्मित अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं। किन्तु नारद मुनि ऐसे मानसिक चिन्तनपरक सिद्धान्तों के विपरीत सृष्टि सम्बन्धी सारे तथ्यों को जानने के इच्छुक थे, उन सिद्धान्तों के द्वारा नहीं।

आत्मा तथा परमात्मा सम्बन्धी दिव्य ज्ञान में जगत तथा इसकी सृष्टि की पृष्ठ-भूमि का ज्ञान सम्मिलित होता है। व्यवहार-जगत में किसी भी बुद्धिमान व्यक्ति को यथार्थ रूप तीन बातें दिखती हैं—जीव, व्यक्त जगत तथा इनके ऊपर अनन्तम नियन्त्रण। बुद्धिमान व्यक्ति देख सकता है कि न तो जीव, न ही व्यवहार-जगत संयोगजन्य सृष्टियाँ हैं। सृष्टि एवं इसके नियमनकारी कार्य-कारणों से इसके पीछे किसी बुद्धिमान मस्तिष्क की योजना कार्यशील प्रतीत होती है। शुद्ध जिज्ञासा द्वारा और किसी ऐसे व्यक्ति की सहायता से, जो उन्हें वास्तव में जानता हो, परम कारण को खोजा जा सकता है।

सर्वं ह्येतद् भवान् वेद भूत-भव्य-भवत्प्रभुः ।

करामलक-वद् विश्वं विज्ञानावसितं तव ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सर्वम्—सारी वस्तुएँ; हि—निश्चय ही; एतत्—यह; भवान्—आप; वेद—जानते हैं; भूत—जो भी उत्पन्न है; भव्य—जो उत्पन्न होंगे; भवत् प्रभुः—आप, सबों के स्वामी; कर-आमलक-वत्—हथेली के आँवले के समान; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; विज्ञान-अवसितम्—आपके वैज्ञानिक ज्ञान के अन्तर्गत; तव—आपका।

हे पिता, आप यह सब वैज्ञानिक ढंग से जानते हैं, क्योंकि भूतकाल में जो कुछ रचा गया, भविष्य में जो भी रचा जायेगा या वर्तमान में जो कुछ रचा जा रहा है तथा इस ब्रह्माण्ड के भीतर

जितनी सारी वस्तुएँ हैं, वे सब आपकी हथेली में आँवले के सदृश हैं।

तात्पर्य : इस व्यक्त ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्माण्ड के भीतर की प्रत्येक वस्तु के प्रत्यक्ष स्रष्टा ब्रह्माजी हैं; अतएव वे जानते हैं कि भूतकाल में क्या घटा, भविष्य में क्या घटित होगा और इस समय क्या घट रहा है। तीन मुख्य वस्तुएँ यथा जीव, दृश्य जगत तथा नियन्ता—ये सतत कार्यशील हैं चाहे भूत हो, वर्तमान या भविष्य और प्रत्यक्ष व्यवस्थापक इन सारे कार्यकारणों को जानता रहता है, जिस तरह कि हथेली में रखे हुए आमलक के विषय में सब कुछ ज्ञात रहता है। किसी वस्तु विशेष का असली निर्माता जानता रहता है कि उसने निर्माण—कला किस तरह सीखी, कहाँ से उसे आवश्यक सामग्री मिली, किस तरह उसे जोड़ा गया और किस तरह से निर्माण—क्रिया के फलस्वरूप वस्तुएँ बन रही हैं। चूँकि ब्रह्माजी प्रथम—जन्मा जीव हैं, अतएव उनसे अपेक्षा है कि वे सृष्टि के सारे कार्यों के विषय में जानें।

यद्विज्ञानो यदाधारो यत्परस्त्वं यदात्मकः ।

एकः सृजसि भूतानि भूतैरेवात्म-मायया ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

यत्-विज्ञानः—ज्ञान का स्रोत; यत्-आधारः—जिसके संरक्षण में; यत्-परः—जिसकी अधीनता में; त्वम्—तुम; यत्-आत्मकः—किस हैसियत से; एकः—अकेले; सृजसि—सृष्टि करते हो; भूतानि—जीवों को; भूतैः—भौतिक तत्त्वों के द्वारा; एव—निश्चय ही; आत्म—स्व; मायया—शक्ति से।

हे पिता, आपके ज्ञान का स्रोत क्या है? आप किसके संरक्षण में रह रहे हैं? आप किसकी अधीनता में कार्य करते हैं? आपकी वास्तविक स्थिति क्या है? क्या आप अकेले ही सारे जीवों को अपनी निजी शक्ति के द्वारा भौतिक तत्त्वों से उत्पन्न करते हैं?

तात्पर्य : यह श्री नारद मुनि को ज्ञात था कि ब्रह्माजी ने कठिन तपस्या करके सृजन-शक्ति प्राप्त की थी। अतएव वे यह जान सके कि ब्रह्माजी से भी श्रेष्ठ कोई है, जिसने ब्रह्मा को सृजन-शक्ति से भरपूर किया है। इसीलिए उन्होंने ये सारे प्रश्न पूछे। अतएव प्रगतिशील वैज्ञानिक उपलब्धियों की खोजें स्वतन्त्र नहीं होतीं। वैज्ञानिक को पहले से विद्यमान वस्तु का ज्ञान अन्य किसी के द्वारा प्रदत्त अद्भुत मस्तिष्क द्वारा प्राप्त करना होता है। एक वैज्ञानिक इस प्रकार से प्रदत्त मस्तिष्क से कार्य कर सकता है, लेकिन उसके लिए अपना मस्तिष्क या इसी तरह का अन्य मस्तिष्क उत्पन्न कर पाना सम्भव नहीं है। अतएव किसी भी सृष्टि के मामले में न तो कोई स्वतन्त्र है, न ऐसी सृष्टि स्वचालित है।

आत्मन् भावयसे तानि न पराभावयन् स्वयम् ।

आत्म-शक्तिमवष्टभ्य ऊर्णनाभिरिवाक्लमः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

आत्मन् (आत्मनि)—अपने द्वारा; भावयसे—प्रकट करते हैं; तानि—वे सब; न—नहीं; पराभावयन्—पराजित होकर; स्वयम्—खुद, अपने आप; आत्म-शक्तिम्—आत्मनिर्भर शक्ति; अवष्टभ्य—नियुक्त होकर; ऊर्ण-नाभिः—मकड़ी; इव—सदृश; अक्लमः—बिना सहायता के ।

जिस प्रकार मकड़ी अपने जाले को सरलता से उत्पन्न करती है और अन्यो के द्वारा पराजित हुए बिना अपनी सृजन-शक्ति प्रकट करती है, उसी प्रकार आप अपनी आत्म-निर्भर शक्ति को प्रयुक्त करके दूसरे से सहायता लिये बिना सृजन करते हैं ।

तात्पर्य : आत्मनिर्भरता का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण सूर्य है । सूर्य को प्रकाशित होने के लिए किसी दूसरे तत्त्व की आवश्यकता नहीं पड़ती । प्रत्युत सूर्य ही समस्त प्रकाशमान वस्तुओं का सहायक बनता है, क्योंकि सूर्य के होने पर अन्य कोई प्रकाशमान वस्तु महत्त्वपूर्ण नहीं होती । नारद ने ब्रह्मा की स्थिति की तुलना उस मकड़ी की आत्म-निर्भरता से की है, जो अन्य किसी से सहायता लिये बिना अपनी लार के शक्तिशाली सृजन से अपना जाला बनाती है ।

नाहं वेद परं ह्यस्मिन्नापरं न समं विभो ।

नाम-रूप-गुणैर्भाव्यं सदसत् किञ्चिदन्यतः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं; वेद—जानता हूँ; परम्—श्रेष्ठ; हि—क्योंकि; अस्मिन्—इस संसार में; न—न तो; अपरम्—निकृष्ट; न—न तो; समम्—समान; विभो—हे महान्; नाम—नाम; रूप—लक्षण; गुणैः—योग्यता से; भाव्यम्—सृजित, सृष्ट; सत्—नित्य, शाश्वत; असत्—क्षण भंगुर; किञ्चित्—या अन्य इसी तरह की कोई वस्तु; अन्यतः—किसी अन्य स्रोत से ।

हम किसी विशेष वस्तु—श्रेष्ठ, निकृष्ट या समतुल्य, नित्य या क्षणिक—इनके नामों, लक्षणों तथा गुणों से जो भी समझ पाते हैं, वह आपके अतिरिक्त अन्य किसी स्रोत से सृजित नहीं होती, क्योंकि आप इतने महान् हैं ।

तात्पर्य : यह व्यक्त जगत ८४,००,००० योनियों में उत्पन्न विविध प्रकार के जीवों से परिपूर्ण है । इनमें से कुछ श्रेष्ठ हैं, तो कुछ निकृष्ट । मानव समाज में मनुष्य श्रेष्ठ प्राणी माना जाता है और मनुष्यों में भी विभिन्न किस्में होती हैं यथा उत्तम, निकृष्ट, समान इत्यादि । लेकिन नारदमुनि ने यह मान लिया कि

उनके पिता ब्रह्मा के अतिरिक्त अन्य किसी में सृजन का स्रोत नहीं है। अतएव वे ब्रह्माजी से उनके विषय में सब कुछ जान लेना चाहते थे।

स भवानचरद् घोरं यत् तपः सुसमाहितः ।

तेन खेदयसे नस्त्वं परा-शङ्कां च यच्छसि ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; भवान्—आपने; अचरत्—किया; घोरम्—कठिन; यत् तपः—ध्यान; सु-समाहितः—पूर्ण अनुशासन में; तेन—उस कारण से; खेदयसे—कष्ट देते हैं; नः—हमको; त्वम्—आप; परा—अन्तिम सत्य; शङ्काम्—सन्देह; च—तथा; यच्छसि—हमें अवसर प्रदान करते हैं।

फिर भी जब हम आपके द्वारा पूर्ण अनुशासन में रहते हुए सम्पन्न कठिन तपस्याओं के विषय में सोचते हैं, तो हमें आपसे भी अधिक शक्तिशाली किसी व्यक्ति के अस्तित्व के विषय में आश्चर्य-चकित रह जाना होता है, यद्यपि आप सृष्टि के मामले में इतने शक्तिशाली हैं।

तात्पर्य : श्री नारद मुनि के चरण-चिह्नों का अनुसरण करते हुए मनुष्य को चाहिए कि वह अंधे की तरह गुरु को साक्षात् ईश्वर न मान ले। गुरु का सम्मान ईश्वर के समान ही किया जाता है, लेकिन जो गुरु अपने को साक्षात् ईश्वर कहे, उसे तुरन्त त्याग देना चाहिए। नारद मुनि ने ब्रह्मा को सृष्टि करने के अद्भुत कार्य के कारण परमेश्वर मान लिया था, लेकिन जब उन्होंने देखा कि ब्रह्माजी भी किसी श्रेष्ठ पुरुष की पूजा कर रहे हैं, तो उनको सन्देह हुआ। परमेश्वर तो श्रेष्ठतम हैं ही। उनका कोई आराध्य नहीं है। *अहङ्ग्रहोपासिता* या जो साक्षात् ईश्वर बनने के उद्देश्य से अपनी पूजा करता है भ्रामक है, लेकिन बुद्धिमान शिष्य तुरन्त पहचान सकता है कि परमेश्वर को ईश्वर बनने के लिए किसी की, यहाँ तक कि अपनी भी, पूजा करने की आवश्यकता नहीं रहती। भले ही दिव्य अनुभूति के लिए *अहङ्ग्रहोपासना* एक विधि हो, लेकिन इससे वह कभी ईश्वर नहीं बन सकता। कोई भी व्यक्ति आत्म-अनुभूति की विधि से ईश्वर नहीं बनता। नारद मुनि ने ब्रह्माजी को परम पुरुष के रूप में सोचा था, किन्तु जब उन्होंने देखा कि वे दिव्य अनुभूति की विधि में लगे हैं, तो उन्हें सन्देह हुआ। अतएव वे सही-सही जानकारी चाह रहे थे।

एतन्मे पृच्छतः सर्वं सर्व-ज्ञ सकलेश्वर ।

विजानीहि यथैवेदमहं बुध्येऽनुशासितः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह सब; मे—मुझको; पृच्छतः—उत्सुक, जिज्ञासु; सर्वम्—जो कुछ पूछा जाता है; सर्व-ज्ञ—सब कुछ जाननेवाला; सकल—सम्पूर्ण; ईश्वर—नियन्ता; विजानीहि—कृपा करके बतायें; यथा—जिस तरह; एव—वे हैं; इदम्—यह; अहम्—मैं; बुध्ये—समझ सकूँ; अनुशासितः—आपसे सीखकर।

हे पिता, आप सब कुछ जाननेवाले हैं और सबों के नियन्ता हैं। अतएव मैंने आपसे जितने सारे प्रश्न किये हैं, उन्हें कृपा करके बताइये, जिससे मैं आपके शिष्य के रूप में उन्हें समझ सकूँ।

तात्पर्य : नारद मुनि द्वारा पूछे गये सारे प्रश्न सबों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। अतएव उन्होंने ब्रह्माजी से प्रार्थना की कि वे इन्हें उपयुक्त समझें, जिससे ब्रह्म-सम्प्रदाय की परम्परा के अन्य सभी लोग बिना कठिनाई के उन्हें समझ सकें।

ब्रह्मोवाच

सम्यक् कारुणिकस्येदं वत्स ते विचिकित्सितम् ।

यदहं चोदितः सौम्य भगवद्दीर्य-दर्शने ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा उवाच—ब्रह्माजी ने कहा; सम्यक्—ठीक ढंग से; कारुणिकस्य—आपका, जो अत्यन्त दयालु हैं; इदम्—यह; वत्स—मेरे बच्चे; ते—तुम्हारी; विचिकित्सितम्—जिज्ञासा; यत्—जिससे; अहम्—मैं; चोदितः—प्रेरित; सौम्य—हे भद्र; भगवत्—भगवान् का; दीर्य—पराक्रम के; दर्शने—सम्बन्ध में, विषयक।

ब्रह्माजी ने कहा : हे मेरे वत्स नारद, तुमने सबों पर (मुझ सहित) करुणा करके ही ये सारे प्रश्न पूछे हैं, क्योंकि इनसे मैं भगवान् के पराक्रम को बारीकी से देखने के लिए प्रेरित हुआ हूँ।

तात्पर्य : नारद जी द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर ब्रह्माजी ने उनको बधाई दी, क्योंकि जब भी भक्तों से भगवान् के विषय में प्रश्न पूछे जाते हैं, तो वे अत्यन्त प्रफुल्लित हो उठते हैं। यह भगवान् के शुद्ध भक्त का लक्षण है। भगवान् के दिव्य कार्यकलापों से सम्बन्धित ऐसी वार्ताओं से वह वायुमण्डल शुद्ध हो जाता है, जिसमें ये वार्ताएँ होती हैं और ऐसे प्रश्नों का उत्तर देते समय भक्तगण जीवन्त हो उठते हैं। यह प्रश्नकर्ता तथा उत्तरदाता दोनों को ही शुद्ध करनेवाला है। शुद्ध भक्त भगवान् के विषय में प्रत्येक वस्तु जानकर न केवल तुष्ट होते हैं, अपितु वे इस जानकारी को अन्यो तक प्रसारित करना चाहते हैं, क्योंकि वे यह देखना चाहते हैं कि भगवान् का यश प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञात हो। अतएव जब उन्हें ऐसा

अवसर प्रदान किया जाता है, तो वे अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। धर्मोपदेश-कार्यों का यही मूल सिद्धान्त है।

नानृतं तव तच्चापि यथा मां प्रब्रवीषि भोः ।

अविज्ञाय परं मत्त एतावत्त्वं यतो हि मे ॥ १० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अनृतम्—झूठ; तव—तुम्हारा; तत्—वह; च—भी; अपि—जैसा तुमने कहा है; यथा—विषय में; माम्—मेरे; प्रब्रवीषि—जिस तरह तुम कहते हो; भोः—हे पुत्र; अविज्ञाय—बिना जाने; परम्—परम; मत्तः—मुझसे परे; एतावत्—जो कुछ कहा है; त्वम्—तुमने; यतः—के कारण से; हि—निश्चय ही; मे—मेरे विषय में।

तुमने मेरे विषय में जो कुछ कहा है, वह असत्य नहीं है, क्योंकि जब तक कोई उन भगवान् के विषय में अवगत नहीं हो लेता, जो मुझसे परे परम सत्य रूप हैं, तब तक वह मेरे सशक्त कार्यकलापों से निश्चित रूप से मोहित होता रहेगा।

तात्पर्य : कूपमण्डूक तर्क यह बताता है कि कुएँ की चहारदीवारी तथा वातावरण के भीतर रहनेवाला मेढ़क (मण्डूक) विशाल सागर की लम्बाई-चौड़ाई का अनुमान नहीं लगा सकता। ऐसे मेढ़क को यदि विशाल सागर की लम्बाई-चौड़ाई बताई जाय तो पहले तो वह विश्वास नहीं करेगा कि ऐसा समुद्र हो सकता है और यदि कोई उसे आश्चर्य कर भी दे कि समुद्र सचमुच ऐसा ही होता है, तो वह मेढ़क अपने पेट को फुला कर कल्पना से उसे मापने का प्रयास करता है, जिससे उसका छोटा सा पेट फट जाता है और वह बेचारा वास्तविक समुद्र का अनुभव किये बिना ही मर जाता है। इसी प्रकार भौतिक विज्ञानी भी भगवान् की अचिन्त्य शक्ति को अपने मेढ़क सरीखे मस्तिष्क से तथा अपनी वैज्ञानिक उपलब्धियों के द्वारा, मापकर चुनौती देना चाहते हैं, किन्तु अन्त में वे विफल हो कर मेढ़क की मौत मरते हैं।

कभी-कभी भौतिक दृष्टि से शक्तिशाली व्यक्ति को ईश्वर या ईश्वर का अवतार मान लिया जाता है, यद्यपि उसे वास्तविक ईश्वर का कोई ज्ञान नहीं रहता। ऐसे भौतिक मूल्यांकन को धीरे-धीरे बढ़ाकर ब्रह्माजी की सर्वोत्तम सीमा तक पहुँचा जा सकता है, जो इस ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च जीव हैं और जिनकी आयु भौतिक वैज्ञानिकों के लिए अकल्पनीय है। जैसाकि हमें भगवद्गीता नामक सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रंथ (८.१७) से विदित होता है, ब्रह्मा का एक दिन और रात मिलकर हमारे लोक के लाखों वर्षों के

तुल्य होते हैं। इस दीर्घ आयु पर 'कूप-मण्डूक' भले ही विश्वास न करे, किन्तु जिन व्यक्तियों को भगवद्गीता में वर्णित सत्यों की अनुभूति है, वे ऐसे महापुरुष के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, जो पूर्ण ब्रह्माण्ड की विविधता का सृजन करता है। शास्त्रों से यह भी प्रकट होता है कि इस ब्रह्माण्ड के ब्रह्माजी इस ब्रह्माण्ड से परे अनेक अन्यान्य ब्रह्माण्डों के ब्रह्माओं से अपेक्षतया छोटे हैं, लेकिन इनमें से कोई भी भगवान् के समकक्ष नहीं है।

नारद जी मुक्तात्मा हैं। मुक्ति मिलने के बाद ही वे नारद कहलाये अन्यथा इसके पूर्व वे दासी-पुत्र थे। यहाँ प्रश्न पूछा जा सकता है कि नारद को परमेश्वर का ज्ञान क्यों न था और उन्होंने ब्रह्माजी को परमेश्वर क्यों मान लिया था? जबकि वास्तविकता ऐसी न थी? मुक्तात्मा कभी ऐसे भ्रमात्मक विचार से मोहित नहीं होता, तो फिर नारद एक सामान्य व्यक्ति की भाँति इस तरह के प्रश्न क्यों पूछ रहे थे? ऐसा ही मोह अर्जुन को भी हुआ था, यद्यपि वे भगवान् के नित्य सखा थे। अर्जुन या नारद जैसा मोह भगवान् की इच्छा से ही उत्पन्न होता है, जिससे अन्य अमुक्त (बद्ध) व्यक्ति भी भगवान् के असली सत्य तथा ज्ञान की अनुभूति प्राप्त कर सकें। नारद के मन में ब्रह्माजी के सर्वशक्तिमान होने का जो सन्देह उठा, वह कूप-मण्डूकों के लिए अच्छा पाठ है कि वे भगवान् की गलत पहचान करके मोहित न हो जाँय (यहाँ तक की ब्रह्माजी जैसे पुरुष से तुलना करके; उनकी तो कोई बात ही नहीं, जो क्षुद्र मानव अपने को ईश्वर या ईश्वर-अवतार कहते हैं)। परमेश्वर सदैव सर्वश्रेष्ठ रहता है और जैसाकि हमने अपने तात्पर्यों में कई बार प्रतिपादित किया है, कोई भी जीव, यहाँ तक कि ब्रह्मा भी, स्वयं के भगवान् होने का दावा नहीं कर सकता। जब लोग किसी महापुरुष की मृत्यु के बाद, वीर-पूजा के रूप में उसको ईश्वर की भाँति पूजने लगे तो इससे किसी को दिग्भ्रमित नहीं होना चाहिए। अयोध्या के राजा रामचन्द्र जी जैसे अनेक राजा हुए हैं, किन्तु शास्त्रों में कहीं भी ऐसे राजाओं का उल्लेख ईश्वर के रूप में नहीं हुआ है। भगवान् राम होने के लिए आवश्यक योग्यता एक अच्छा राजा होना नहीं, अपितु भगवान् होने के लिए कृष्ण-जैसा महान् पुरुष होना आवश्यक है। यदि हम कुरुक्षेत्र-युद्ध में भाग लेनेवाले पात्रों के बारे में अध्ययन करें, तो हम देखेंगे कि महाराज युधिष्ठिर भगवान् रामचन्द्र से कम पवित्र राजा न थे और पात्रों अध्ययन से महाराज युधिष्ठिर कृष्ण से अच्छे नैतिकतावादी थे। भगवान्

कृष्ण ने महाराज युधिष्ठिर से झूठ बोलने के लिए कहा, किन्तु महाराज युधिष्ठिर ने इसका प्रतिरोध किया। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि महाराज युधिष्ठिर भगवान् रामचन्द्र या भगवान् कृष्ण के तुल्य थे। महापुरुषों ने महाराज युधिष्ठिर को पुण्यात्मा कहा है, किन्तु उन्होंने राम या कृष्ण को भगवान् के रूप में स्वीकार किया है। अतएव भगवान् सभी परिस्थितियों में भिन्न सत्ता होते हैं और उसके विषय में कोई अवतारवाद लागू नहीं होता। भगवान् सदैव भगवान् रहते हैं और सामान्य प्राणी कभी भी उनकी समता नहीं कर सकता।

येन स्व-रोचिषा विश्वं रोचितं रोचयाम्यहम् ।

यथाकोऽग्निर्यथा सोमो यथर्क्ष-ग्रह-तारकाः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

येन—जिसके द्वारा; स्व-रोचिषा—अपने तेज से; विश्वम्—सारा जगत; रोचितम्—पहले से रचा हुआ; रोचयामि—प्रकट करता हूँ; अहम्—मैं; यथा—जिस तरह; अर्कः—सूर्य; अग्निः—अग्नि; यथा—जिस तरह; सोमः—चन्द्रमा; यथा—जिस तरह; ऋक्ष—आकाश; ग्रह—प्रभावशाली लोक; तारकाः—तारे।

भगवान् द्वारा अपने निजी तेज (ब्रह्मज्योति) से की गई सृष्टि के बाद मैं उसी तरह सृजन करता हूँ जिस तरह कि सूर्य द्वारा अग्नि प्रकट होने के बाद चन्द्रमा, आकाश, प्रभावशाली ग्रह तथा टिमटिमाते तारे भी अपनी चमक प्रकट करते हैं।

तात्पर्य : ब्रह्माजी ने नारद से यह कहा कि उनका अनुमान कि ब्रह्मा सृष्टि में परम प्रमाण नहीं है, ठीक ही था। कभी-कभी अल्पज्ञानी पुरुषों की ऐसी धारणा बनती है कि ब्रह्मा ही सभी कारणों के कारण हैं। लेकिन नारद इस बात को ब्रह्माण्ड के परम प्रमाण ब्रह्माजी के कथनों से स्पष्ट कर लेना चाहते थे। जिस प्रकार राज्य के सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय अन्तिम होता है, उसी तरह ब्रह्माजी का निर्णय ज्ञान प्राप्त करने की वैदिक विधि के अनुसार अन्तिम था। जैसाकि हम पिछले श्लोक में पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं, नारद जी मुक्तात्मा थे। अतएव वे कोई ऐसे अल्पज्ञ व्यक्ति न थे, जो झूठे देवता या देवताओं को मनमाने ढंग से स्वीकार कर लेते। वे अपने को अल्पज्ञ के रूप में प्रस्तुत कर रहे थे, किन्तु बुद्धिमानी के साथ संदेह को समक्ष रख रहे थे जिसका स्पष्टीकरण परम प्रमाण द्वारा हो जिससे अज्ञानी लोग इसको समझ सकें और सृष्टि तथा स्रष्टा की जटिलताओं के विषय में सही-सही जानकारी प्राप्त कर लें।

इस श्लोक में ब्रह्माजी अल्पज्ञों की गलत धारणा को स्पष्ट कर देते हैं और पुष्टि करते हैं कि वे विश्व की विविधता का सृजन भगवान् श्रीकृष्ण के प्रकाशमान तेज द्वारा उत्पन्न सृष्टि के बाद करते हैं। ब्रह्माजी ने अलग से भी यही बात *ब्रह्म संहिता* (५.४०) में इस प्रकार कही है—

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि-
कोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम् ।
तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

“मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की सेवा करता हूँ, जिनका दिव्य शारीरिक तेज जो ब्रह्मज्योति के नाम से प्रसिद्ध है, जो असीम, अगाध तथा सर्वव्यापी हैं और जो उन असंख्य लोकों आदि की सृष्टि के कारण हैं, जिनमें नाना प्रकार की जलवायु तथा जीवन की दशाएँ हैं।”

यही वक्तव्य *भगवद्गीता* (१४.२७) में पाया जाता है। भगवान् कृष्ण ही ब्रह्मज्योति के आधार हैं (*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*)। *निरुक्ति* अर्थात् वैदिक कोश में प्रतिष्ठा का उल्लेख ‘जो स्थापित करता है’ के रूप में हुआ है। इस तरह ब्रह्मज्योति स्वतन्त्र या आत्म-निर्भर नहीं है। भगवान् कृष्ण ही अन्ततोगत्वा ब्रह्मज्योति के स्रष्टा हैं, जिसे इस श्लोक में स्व-रोचिषा या भगवान् के दिव्य शरीर का तेज कहा गया है। यह ब्रह्मज्योति सर्वव्यापी है और इसकी निहित शक्ति से सारी सृष्टि सम्भव होती है। अतएव वैदिक स्तोत्र घोषित करते हैं कि जितनी वस्तुओं का अस्तित्व है, वे ब्रह्मज्योति द्वारा धारित हैं (*सर्वं खल्विदं ब्रह्म*)। इस प्रकार सारी सृष्टि का बीज ब्रह्मज्योति है और यही असीम तथा अगाध ब्रह्मज्योति भगवान् द्वारा स्थापित की जाती है। अतएव भगवान् (श्रीकृष्ण) ही सारी सृष्टि के परम कारण हैं (*अहं सर्वस्य प्रभवः*)।

हमें यह अपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि भगवान् लुहार की तरह हथौड़े तथा अन्य औजारों से सृजन करते होंगे। वे तो अपनी शक्तियों से सृजन-कार्य करते हैं। उनकी बहुगुणित शक्तियाँ हैं (*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*)। जिस प्रकार एक छोटे से वट-बीज में विशाल वट-वृक्ष उत्पन्न करने की क्षमता रहती है, उसी प्रकार भगवान् अपनी ब्रह्मज्योति (स्व-रोचिषा) से सभी प्रकार के बीजों को फैलाते हैं

और ये बीज ब्रह्मा जैसे व्यक्तियों द्वारा सींचे जाने पर विकसित होते हैं। ब्रह्मा बीजों को उत्पन्न नहीं कर सकते, किन्तु वे बीज को वृक्ष के रूप में दिखला सकते हैं जिस प्रकार माली जल से सींच-सींच कर पौधों को तथा अमराइयों को बड़ा बनाता है। यहाँ पर दिया गया सूर्य का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है। भौतिक जगत में सूर्य ही समस्त प्रकाश का यथा अग्नि, बिजली, चन्द्रमा की किरणों का कारण है। आकाश के सारे ज्योतिष्क सूर्य की सृष्टियाँ हैं, सूर्य ब्रह्मज्योति की सृष्टि है और ब्रह्मज्योति भगवान् का तेज है। इस प्रकार सृष्टि के अनन्तिम कारण भगवान् हैं।

तस्मै नमो भगवते वासुदेवाय धीमहि ।

यन्मायया दुर्जयया मां वदन्ति जगद्गुरुम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

तस्मै—उस; नमः—नमस्कार करता हूँ; भगवते—भगवान् को; वासुदेवाय—भगवान् कृष्ण को; धीमहि—उनका ध्यान करता हूँ; यत्—जिस; मायया—शक्ति के द्वारा; दुर्जयया—दुर्जय; माम्—मुझे; वदन्ति—कहते हैं; जगत्—जगत; गुरुम्—स्वामी।

मैं उन भगवान् कृष्ण (वासुदेव) को नमस्कार करता हूँ तथा उनका ध्यान करता हूँ, जिनकी दुर्जय शक्ति उन्हें (अल्पज्ञ मनुष्यों को) इस तरह प्रभावित करती है कि वे मुझे ही परम नियन्ता कहते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि अगले श्लोक में अधिक स्पष्ट रूप से बतलाया जायेगा, अल्पज्ञ को भगवान् की शक्ति इस तरह मोहित करती है कि वह ब्रह्माजी को या अन्य किसी व्यक्ति को परमेश्वर मान बैठता है। किन्तु ब्रह्माजी को ऐसा कहलाना पसन्द नहीं है। वे भगवान् वासुदेव या श्रीकृष्ण को उसी तरह सादर नमस्कार करते हैं जिस तरह उन्होंने ब्रह्म-संहिता (५.१) में उनका अभिवादन किया है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।

अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणं ॥

“परमेश्वर तो भगवान् श्रीकृष्ण हैं, जो अपने दिव्य शरीर से आदि भगवान् हैं और समस्त कारणों के परम कारण हैं। मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ।”

ब्रह्माजी अपनी असली स्थिति से अवगत हैं और वे जानते हैं कि किस तरह अल्पज्ञानी व्यक्ति

भगवान् की भ्रामक शक्ति द्वारा मोहित होकर हर एक को ईश्वर मान लेते हैं। ब्रह्माजी जैसे उत्तरदायी पुरुष अपने शिष्यों या आश्रितों से परमेश्वर कहलाना पसन्द नहीं करते, लेकिन मूर्ख व्यक्ति कुत्तों, शूकरों, ऊँटों तथा घोड़ों जैसे पुरुषों से प्रशंसित होने एवं परमेश्वर के रूप में सम्बोधित किये जाने पर अत्यन्त प्रफुल्लित होते हैं। ऐसे लोग ईश्वर कहलाने या मूर्ख प्रशंसकों द्वारा ईश्वर कहकर पुकारे जाने पर क्यों पुलकित होते हैं इसकी व्याख्या अगले श्लोक में दी गई है।

विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षा-पथेऽमुया ।

विमोहिता विकथन्ते ममाहमिति दुर्धियः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

विलज्जमानया—लज्जित व्यक्ति द्वारा; यस्य—जिसका; स्थातुम्—ठहरने के लिए; ईक्षा-पथे—समक्ष; अमुया—भ्रामिका शक्ति द्वारा; विमोहिताः—जो मोहित हैं; विकथन्ते—प्रलाप करते हैं; मम—यह मेरा है; अहम्—मैं ही सब कुछ हूँ; इति—इस तरह भला-बुरा कहकर; दुर्धियः—इस प्रकार बुरा सोचा गया।

भगवान् की भ्रामिका शक्ति (माया) अपनी स्थिति से लज्जित होने के कारण सामने ठहर नहीं पाती, लेकिन जो लोग इसके द्वारा मोहित होते हैं, वे “यह मैं हूँ” और “यह मेरा है” के विचारों में लीन रहने के कारण व्यर्थ की बातें करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् की दुर्जेय शक्तिशाली छलिनी शक्ति या तीसरी शक्ति, जो अज्ञान का प्रतिनिधित्व करती है, सम्पूर्ण जगत को मोहित कर सकती है, तो भी वह इतनी प्रबल नहीं होती कि परमेश्वर के समक्ष ठहर सके। अविद्या तो भगवान् के पीछे रहकर वहीं से जीवों को गुमराह करती है। मोहग्रस्त जीव का मुख्य लक्षण है कि वह व्यर्थ की बकवास करता है। यह वैदिक साहित्य के सिद्धान्तों से समर्थित नहीं रहती और सबसे अधिक निकृष्ट बकवास है—“यह मैं हूँ, यह मेरा है।” ईशविहीन सभ्यता ऐसे झूठे विचारों पर ही चलती है और ऐसे व्यक्ति ईश्वर की वास्तविक अनुभूति के बिना ही मिथ्या ईश्वर को मानते हैं या उन लोगों को, जो पहले से ठगिनी शक्ति द्वारा मोहग्रस्त होते हैं, गुमराह करने के लिए अपने को ही ईश्वर घोषित कर देते हैं। किन्तु जो भगवान् के समक्ष रहते हैं तथा जो उनकी शरण ग्रहण किये रहते हैं, वे ठगिनी शक्ति द्वारा प्रभावित नहीं होते। अतएव वे इस भ्रान्त धारणा से कि, “यह मैं हूँ, यह मेरा है” मुक्त रहते हैं। इस तरह वे न तो मिथ्या ईश्वर को स्वीकार करते हैं, न अपने को परमेश्वर के तुल्य कहते हैं। इस श्लोक में मोहग्रस्त व्यक्ति की पहचान स्पष्ट रूप से की गई

है।

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च ।

वासुदेवात्परो ब्रह्मन्न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

द्रव्यम्—अवयव (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश); कर्म—अन्योन्य क्रियाएँ; च—तथा; कालः—शाश्वत काल; च—भी; स्व-भावः—स्वभाव; जीवः—जीव; एव—निश्चय ही; च—तथा; वासुदेवात्—वासुदेव से; परः—भिन्न अंश; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; न—कभी नहीं; च—भी; अन्यः—पृथक्; अर्थः—महत्त्व; अस्ति—है; तत्त्वतः—वास्तव में।

सृष्टि के पाँच मूल अवयव शाश्वत काल द्वारा उनसे उत्पन्न अन्योन्य क्रिया तथा जीव का स्वभाव—ये सब भगवान् वासुदेव के भिन्नांश हैं और सच बात तो यह है कि उनका कोई अन्य महत्त्व नहीं है।

तात्पर्य : यह व्यवहार-जगत निर्विशेषतया वासुदेव की अभिव्यक्ति है, क्योंकि इसके सृजनकारी अवयव, उनकी अन्योन्य क्रिया तथा फल का भोक्ता जीव—ये सभी भगवान् कृष्ण की बहिरंगा तथा अन्तरंगा शक्तियों द्वारा उत्पन्न हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.४-५) में हुई है। सारे अवयव यथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश एवं इन्हीं के साथ भौतिक पहचान की अवधारणा, बुद्धि तथा मन भगवान् की बहिरंगा शक्ति से उत्पन्न हैं। शाश्वत काल द्वारा निर्धारित इन स्थूल तथा सूक्ष्म अवयवों का भोग करनेवाला जीव अन्तरंगा शक्ति की उपज है, जिसे इस जगत में या वैकुण्ठ लोक में रहने की छूट है। भौतिक जगत में जीव ठगिनी अविद्या से छला जाता है, किन्तु वैकुण्ठ लोक में वह किसी भ्रम के बिना सामान्य अवस्था में रहता है। जीव को भगवान् की तटस्था शक्ति कहा जाता है, लेकिन सभी परिस्थितियों में न तो भौतिक अवयव और न आध्यात्मिक भिन्नांश ही भगवान् वासुदेव से स्वतन्त्र हैं, क्योंकि सारी वस्तुएँ, चाहे वे भगवान् की बहिरंगा, अन्तरंगा या तटस्था शक्तियों के प्रतिफल हों, उसी तरह भगवान् के तेज के प्रदर्शन हैं जिस प्रकार प्रकाश, उष्मा तथा धुआँ एक ही अग्नि के प्रदर्शन हैं। इनमें से कोई अग्नि से भिन्न नहीं—सभी मिलकर अग्नि कहलाते हैं। इसी प्रकार सारी व्यावहारिक अभिव्यक्तियाँ तथा वासुदेव के शरीर का तेज उनके निर्विशेष गुण हैं, जबकि भगवान् उपर्युक्त भौतिक अवयवों की अवधारणाओं से सर्वथा पृथक् *सच्चिदानन्द विग्रह* नामक अपने दिव्य रूप में रहते हैं।

नारायण-परा वेदा देवा नारायणाङ्गजाः ।

नारायण-परा लोका नारायण-परा मखाः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

नारायण—परमेश्वर; परा:—कारण-स्वरूप तथा उसी के निमित्त; वेदा:—ज्ञान; देवा:—देवता; नारायण—परमेश्वर के; अङ्ग-जा:—सहायक; नारायण—भगवान्; परा:—के लिए; लोका:—सारे लोक; नारायण—परमेश्वर; परा:—उन्हें प्रसन्न करने के लिए; मखा:—सारे यज्ञ ।

सारे वैदिक ग्रंथ परमेश्वर से ही बने हैं और उन्हीं के निमित्त हैं। देवता भी भगवान् के शरीर के अंगों के रूप में उन्हीं की सेवा के लिए हैं। विभिन्न लोक भी भगवान् के निमित्त हैं और विभिन्न यज्ञ उन्हीं को प्रसन्न करने के लिए सम्पन्न किये जाते हैं।

तात्पर्य : वेदान्त सूत्र (शास्त्रयोनित्वात्) के अनुसार परमेश्वर समस्त शास्त्रों के रचयिता हैं और सारे शास्त्र इन्हीं परमेश्वर को जानने के लिए हैं। वेद का अर्थ है भगवान्-विषयक ज्ञान। वेदों की रचना बद्धजीव की विस्मृत चेतना को जागृत करने के लिए हुई और ऐसा साहित्य जो ईश-चेतना को जागृत करनेवाला नहीं होता, वह नारायणपर भक्तों द्वारा त्याज्य है। जिन ग्रंथों का लक्ष्य नारायण नहीं होता, ऐसे भ्रामक ग्रंथ ज्ञान नहीं हैं अपितु उन कौवों के क्रीडास्थल हैं, जो विश्व भर का जूठन खाने में रुचि रखते हैं। ज्ञान (विज्ञान या कला) के किसी भी ग्रंथ से नारायण का ज्ञान होना चाहिए, अन्यथा वह त्यागने योग्य है। ज्ञान की प्रगति का यही साधन है। परम पूज्य विग्रह नारायण हैं। पूजन के लिए देवताओं को नारायण से गौण स्थान प्रदान किया जाता है, क्योंकि देवता तो विश्व के कार्यों की व्यवस्था में सहायक होते हैं। जिस तरह किसी राज्य के अधिकारियों का आदर इसीलिए होता है क्योंकि राजा से उनका सम्बन्ध होता है, उसी तरह देवताओं की पूजा भगवान् के साथ उनके सम्बन्ध के कारण होती है। भगवान् से सम्बन्ध न होने पर देवताओं की पूजा अनुचित है (अविधिपूर्वकम्), ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि जड़ को न सींच कर वृक्ष की पत्तियों तथा टहनियों को सींचना। अतएव सारे देवता भी नारायण पर आश्रित रहते हैं। विभिन्न लोक इसलिए आकर्षक लगते हैं, क्योंकि उनमें तरह-तरह का जीवन है तथा आनन्द है, जो सच्चिदानन्द विग्रह की आंशिक अभिव्यक्ति है। प्रत्येक व्यक्ति शाश्वत आनन्द तथा ज्ञानमय जीवन चाहता है। भौतिक जगत में ऐसा आनन्द तथा ज्ञानमय शाश्वत जीवन उच्चतर लोकों में ही सम्भव है, लेकिन वहाँ तक पहुँचने पर वह भगवद्धाम जाने के लिये उन्मुख हो सकता है। जीवन की अवधि (आयु) भी आनन्द तथा ज्ञान की मात्रा के अनुपात में, एक

लोक से दूसरे लोक में, अधिक हो सकती है। विभिन्न लोकों में जीव की आयु हजारों-लाखों साल तक बढ़ सकती है, किन्तु कहीं भी शाश्वत जीवन नहीं है। किन्तु जो व्यक्ति सर्वोच्च लोक अर्थात् ब्रह्मलोक तक पहुँच जाता है, वह वैकुण्ठ लोक जाने की कामना कर सकता है, जहाँ जीवन शाश्वत है। अतएव एक लोक से दूसरे लोक की यात्रा का अन्त भगवान् के परम लोक (*मद्भाम*) पहुँचने पर हो जाता है, जहाँ जीवन शाश्वत है और ज्ञान तथा आनन्द से पूर्ण है। जितने सारे यज्ञ किये जाते हैं, वे भगवान् नारायण को प्रसन्न करके उन तक पहुँचने के लिए होते हैं और इस कलियुग के लिए जिस सर्वश्रेष्ठ यज्ञ की संस्तुति की जाती है, वह *संकीर्तन यज्ञ* है, जो नारायण-पर भक्त की भक्तिमय सेवा का मूलाधार है।

नारायण-परो योगो नारायण-परं तपः ।

नारायण-परं ज्ञानं नारायण-परा गतिः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

नारायण-परः—नारायण को जानने के लिए; योगः—मन की एकाग्रता; नारायण-परम्—नारायण को प्राप्त करने के उद्देश्य से; तपः—तपस्या; नारायण-परम्—नारायण की झलक पाने के लिए; ज्ञानम्—दिव्य ज्ञान की संस्कृति; नारायण-परा—नारायण के धाम में प्रवेश करते ही मोक्ष का पथ समाप्त हो जाता है; गतिः—उत्तरोत्तर पथ।

सभी प्रकार के ध्यान या योग नारायण की अनुभूति प्राप्त करने के लिए हैं। सारी तपस्याओं का लक्ष्य नारायण को प्राप्त करने के निमित्त है। दिव्य ज्ञान का संवर्धन नारायण की झलक प्राप्त करने के लिए है और चरम मोक्ष तो नारायण के धाम में प्रवेश करने के लिए ही है।

तात्पर्य : ध्यान योग की दो पद्धतियाँ हैं—*अष्टांग योग* तथा *सांख्य योग*। *अष्टांग योग* मन को एकाग्र करने का अभ्यास है, जिसमें ध्यान, धारण, आसन, प्राणायाम आदि की विधियों से अपने को समस्त व्यस्तताओं से मुक्त कर लिया जाता है। *सांख्य योग* क्षणिक और सत्य का अन्तर बताने वाला है। लेकिन दोनों ही पद्धतियाँ अन्ततोगत्वा निर्विशेष ब्रह्म की अनुभूति के लिए हैं, जो भगवान् नारायण की आंशिक अभिव्यक्ति है। जैसाकि हम पहले कह चुके हैं निर्विशेष ब्रह्मतेज भगवान् का अंशमात्र है। निर्विशेष ब्रह्म साक्षात् भगवान् पर स्थित है, फलस्वरूप ब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् का महिमा-गायन है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* तथा *मत्स्यपुराण* दोनों से होती है। गति शब्द चरम गन्तव्य या मोक्ष की अन्तिम स्थिति का सूचक है। निर्विशेष *ब्रह्मज्योति* से तादात्म्य चरम मोक्ष नहीं है। इससे तो श्रेष्ठ है अनन्त

वैकुण्ठ लोकों में से किसी एक में भगवान् की भव्य संगति। अतएव निष्कर्ष निकलता है कि नारायण या भगवान् सभी प्रकार की योग-पद्धतियों तथा सभी प्रकार के मोक्ष के चरम लक्ष्य हैं।

तस्यापि द्रष्टुरीशस्य कूट-स्थस्याखिलात्मनः ।

सृज्यं सृजामि सृष्टोऽहमीक्षयैवाभिचोदितः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; अपि—निश्चय ही; द्रष्टुः—देखनेवाले का; ईशस्य—नियन्ता का; कूट-स्थस्य—जो सबों की बुद्धि के ऊपर है, उसका; अखिल-आत्मनः—परमात्मा का; सृज्यम्—पहले से सृष्ट; सृजामि—मैं खोजता हूँ; सृष्टः—सृजित; अहम्—मैं; ईक्षया—झलक मात्र से; एव—सही-सही; अभिचोदितः—उससे प्रेरित होकर।

उनके ही द्वारा प्रेरित होकर मैं भगवान् नारायण द्वारा सर्वव्यापी परमात्मा के रूप में उनकी ही दृष्टि के सामने पहले जो सृजित हो चुका है, उसी की फिर खोज करता हूँ और मैं भी केवल उन्हीं के द्वारा सृजित हूँ।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड के स्रष्टा ब्रह्माजी भी स्वीकार करते हैं कि वे असली स्रष्टा नहीं, अपितु भगवान् नारायण द्वारा प्रेरणा-प्राप्त हैं। अतएव उन्हीं की अध्यक्षता में वे समस्त जीवों के परमात्मास्वरूप उन्हीं के द्वारा पहले से निर्मित वस्तुओं का सृजन करते हैं। परमात्मा तथा आत्मा, इन दो को ब्रह्माण्ड के बड़े-बड़े महापुरुषों तक ने जीव में निहित माना है। परमात्मा तो भगवान् है, जबकि आत्मा भगवान् का नित्य सेवक है। भगवान् आत्मा (जीव) को प्रेरित करते हैं कि उन्होंने जो कुछ पहले सृष्टि की है, वह उसका सृजन करे और भगवत्कृपा से इस संसार में जो कोई किसी भी वस्तु की खोज करता है, वह उसका खोजी मान लिया जाता है। कहा जाता है कि कोलम्बस ने पश्चिमी गोलार्द्ध की खोज की, लेकिन वास्तविकता यह है कि उस भूभाग का सृजन कोलम्बस ने नहीं किया। यह विशाल भूखण्ड परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता के कारण पहले से वहाँ था और कोलम्बस को भगवान् की विगत सेवा के बल पर अमरीका की खोज करने का श्रेय प्राप्त हुआ। इसी प्रकार कोई भी व्यक्ति भगवान् की इच्छा के विरुद्ध कुछ भी सृजन नहीं कर सकता, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार ही देखता है। यह क्षमता भी मनुष्य द्वारा भगवान् की सेवा करने की रजामन्दी के अनुसार भगवान् द्वारा प्रदान की जाती है। अतएव मनुष्य को स्वेच्छा से भगवान् की सेवा करने के लिए इच्छुक होना चाहिए। इस तरह भगवान् कर्ता को उसी अनुपात में शक्ति प्रदान करते हैं, जिस अनुपात में वह भगवान् के चरणकमलों

में आत्मसमर्पण करता है। ब्रह्माजी भगवान् के महान् भक्त हैं, अतएव भगवान् ने उन्हें शक्ति दी, या यों कहें कि यह प्रेरणा दी कि हमारे समक्ष जैसा विश्व है, वे वैसे ही विश्व की सृष्टि करें। भगवान् ने इसी तरह अर्जुन को कुरुक्षेत्र में युद्ध करने के लिए प्रेरित किया था (*भगवद्गीता* ११.३३)।

तस्मात् त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व

जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।

मयैवैते निहताः पूर्वमेव

निमित्तमात्रम् भव सव्यसाचिन् ॥

चाहे कुरुक्षेत्र का युद्ध हो या किसी अन्य स्थान अथवा अन्य समय में लड़ा गया कोई युद्ध हो, वह भगवान् की इच्छा से लड़ा जाता है, क्योंकि भगवान् की मर्जी के बिना कोई इतना बड़ा जन-संहार नहीं कर सकता। दुर्योधन के दल ने कृष्ण की परम भक्त द्रौपदी का अपमान किया और द्रौपदी ने भगवान् से तथा वहाँ पर उपस्थित सारे मूक दर्शकों से इस अनुचित अपमान से बचने के लिए याचना की। तब अर्जुन को भगवान् ने सलाह दी कि वह लड़कर बदला ले अन्यथा दुर्योधन का दल भगवान् की इच्छा से किसी न किसी प्रकार मारा जायेगा। इस तरह अर्जुन को निमित्तमात्र बनने तथा भीष्म एवं कर्ण जैसे महान् सेनापतियों का बध करने का श्रेय लेने के लिए कहा गया।

कठोपनिषद् जैसे वैदिक ग्रंथ में भगवान् को सर्वभूत अन्तरात्मा के रूप में वर्णित किया गया है अर्थात् वे प्रत्येक शरीर के भीतर निवास करनेवाले तथा उनकी शरण में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को निर्देश देनेवाले हैं। जो शरणागत नहीं हैं उन्हें प्रकृति के संरक्षण में रखा जाता है (*भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया*)। इस तरह उन्हें अपने ढंग से कार्य करने दिया जाता है और स्वयं दुष्परिणाम भोगने दिया जाता है। ब्रह्मा तथा अर्जुन जैसे भक्त अपनी ओर से कुछ भी नहीं करते, अपितु पूर्ण शरणागत होने के कारण भगवान् के संकेतों की प्रतीक्षा करते रहते हैं। अतएव वे कुछ ऐसा करने का प्रयास करते हैं, जो सामान्य दृष्टि में अत्यन्त आश्चर्यजनक प्रतीत होता है। भगवान् का एक नाम उरुक्रम है, जिसका अर्थ है, वह जिसके कार्य अत्यन्त अद्भुत और जीव की कल्पना से परे होते हैं; अतएव भगवान् के भक्तों के कार्य कभी-कभी अत्यन्त अद्भुत प्रतीत होते हैं, क्योंकि उनमें भगवान् का

निर्देशन रहता है। ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च बुद्धिमान जीव ब्रह्मा से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक सारे जीवों की बुद्धि भगवान् द्वारा सारे कार्यों के साक्षी रूप में देखी जाती है। भगवान् की सूक्ष्म उपस्थिति का अनुभव उस बुद्धिमान व्यक्ति को होता है, जो सोचने, अनुभव करने तथा चाहने के मनोवैज्ञानिक प्रभावों का अध्ययन कर सकता है।

सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रयः ।

स्थिति-सर्ग-निरोधेषु गृहीता मायया विभोः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सत्त्वम्—सतो गुण; रजः—रजोगुण; तमः—तमोगुण; इति—ये सब; निर्गुणस्य—ब्रह्म के; गुणाः त्रयः—तीन गुण हैं; स्थिति—पालन; सर्ग—उत्पत्ति; निरोधेषु—संहार में; गृहीता—स्वीकृत; मायया—बहिरंगा शक्ति के द्वारा; विभोः—परमेश्वर की।

परमेश्वर अपने शुद्ध आध्यात्मिक रूप में सारे भौतिक गुणों से परे होते हैं, फिर भी भौतिक जगत की सृष्टि, उसके पालन तथा संहार के लिए वे अपनी बहिरंगा शक्ति के माध्यम से प्रकृति के गुणों को—सतो, रजो तथा तमो गुणों को—स्वीकार करते हैं।

तात्पर्य : परमेश्वर उस बहिरंगा शक्ति के स्वामी हैं, जो सतो, रजो तथा तमो—इन तीन गुणों द्वारा व्यक्त होती है और इस शक्ति के स्वामी होने के कारण वे कभी भी इस मोहक शक्ति से प्रभावित नहीं होते। किन्तु जीव ऐसे गुणों से या तो प्रभावित रहते हैं या उनके प्रभावित होने की सम्भावना बनी रहती है—भगवान् तथा जीव में यही प्रमुख अन्तर है। यद्यपि जीव मूलतः गुणात्मक दृष्टि से भगवान् से एक हैं, किन्तु जीव इन गुणों द्वारा प्रभावित होते रहते हैं। दूसरे शब्दों में, ये भौतिक गुण भगवान् की बहिरंगा शक्ति से उत्पन्न होने के कारण निश्चय ही भगवान् से सम्बन्धित होते हैं, लेकिन यह सम्बन्ध स्वामी तथा दास जैसा होता है। परमेश्वर भौतिक शक्ति के नियामक हैं, किन्तु सारे जीव भौतिक जगत में फँसे होने के कारण न तो स्वामी हैं, न नियामक प्रत्युत वे ऐसी शक्ति द्वारा नियन्त्रित होते हैं या उसके अधीन हो जाते हैं। वास्तव में, भगवान् अपनी अन्तरंगा या आध्यात्मिक शक्ति से उसी प्रकार नित्य प्रकट रहते हैं, जिस तरह स्वच्छ आकाश में सूर्य तथा उसकी किरणें प्रकट होती हैं। लेकिन कभी-कभी वे भौतिक शक्ति उत्पन्न करते हैं, जिस तरह सूर्य निर्मल आकाश में बादल उत्पन्न कर देता है। जिस प्रकार सूर्य बादल के टुकड़े से अप्रभावित रहता है, उसी प्रकार अनन्त भगवान् भौतिक शक्ति

के धब्बे से जो कभी-कभी भगवान् की ब्रह्मज्योति की किरणों के असीम विस्तार में प्रकट हो जाता है, अप्रभावित रहते हैं।

कार्य-कारण-कर्तृत्वे द्रव्य-ज्ञान-क्रियाश्रयाः ।

बध्नन्ति नित्यदा मुक्तं मायिनं पुरुषं गुणाः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

कार्य—प्रभाव, फल; कारण—कारण; कर्तृत्वे—कार्यों में; द्रव्य—पदार्थ; ज्ञान—ज्ञान; क्रिया-आश्रयाः—ऐसे लक्षणों से प्रकट; बध्नन्ति—बद्ध करते हैं; नित्यदा—नित्य; मुक्तम्—दिव्य; मायिनम्—भौतिक शक्ति से प्रभावित; पुरुषम्—जीव को; गुणाः—भौतिक गुण।

भौतिक प्रकृति के ये तीनों गुण आगे चलकर पदार्थ, ज्ञान तथा क्रियाओं के रूप में प्रकट होकर दिव्य जीव को कार्य-कारण के प्रतिबन्धों के अन्तर्गत डाल देते हैं और ऐसे कार्यों के लिए उसे उत्तरदायी बना देते हैं।

तात्पर्य : चूँकि नित्य शाश्वत जीव अन्तरंगा तथा बहिरंगा शक्तियों के मध्य में स्थित हैं, अतएव वे भगवान् की तटस्था शक्ति कहलाते हैं। वास्तव में जीव भौतिक शक्ति द्वारा बद्ध होने के लिए नहीं हैं, लेकिन भौतिक शक्ति पर प्रभुता जताने के मिथ्या भाव के कारण वे ऐसी शक्ति के वशीभूत हो जाते हैं और इस तरह तीनों गुणों द्वारा बँध जाते हैं। भगवान् की यह बहिरंगा शक्ति उस जीव के शुद्ध ज्ञान को प्रच्छन्न कर लेती है, जो शाश्वत रूप से भगवान् के साथ रहनेवाला है। यह आवरण इतना स्थायी होता है कि बद्धजीव नित्य अज्ञानी प्रतीत होता है। माया या बहिरंगा शक्ति का प्रभाव इतना अद्भुत होता है मानो यह भूतों से उत्पन्न हुआ हो। भौतिक शक्ति की आवरणात्मक मजबूती के कारण भौतिक-विज्ञानी भौतिक कारणों से परे नहीं देख पाता लेकिन वस्तुतः भौतिक अभिव्यक्तियों के पीछे *अधिभूत*, *अध्यात्म* तथा *अधिदैव* क्रियाएँ होती हैं, जिन्हें तमोगुणी बद्धजीव नहीं देख पाता। *अधिभूत* अभिव्यक्ति के अन्तर्गत बुढ़ापा तथा रोग समेत जन्म-मृत्यु की पुनरावृत्ति होती है, *अध्यात्म* अभिव्यक्ति में आत्मा बद्ध होती है और *अधिदैव* अभिव्यक्ति नियामक पद्धति है। ये कार्य-कारण तथा बद्ध कर्ताओं में उत्तरदायित्व के भावों की भौतिक अभिव्यक्तियाँ हैं। आखिर कार ये सब बद्ध अवस्था की अभिव्यक्तियाँ हैं और ऐसी बद्ध अवस्था से मनुष्य का स्वतन्त्र होना ही सर्वोच्च सिद्धि है।

स एष भगवाँल्लिङ्गैस्त्रिभिरेतैरधोक्षजः ।

स्वलक्षित-गतिर्ब्रह्मन् सर्वेषां मम चेश्वरः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एषः—यह; भगवान्—भगवान्; लिङ्गैः—लक्षणों से; त्रिभिः—तीन; एतैः—इन सबों से; अधोक्षजः—परम द्रष्टा ब्रह्म; सु-अलक्षित—अदृश्य; गतिः—चाल-फेर; ब्रह्मन्—हे नारद; सर्वेषाम्—हर एक का; मम—मेरा; च—भी; ईश्वरः—नियन्ता ।

हे ब्राह्मण नारद, परम द्रष्टा परब्रह्म प्रकृति के उपर्युक्त तीनों गुणों के कारण जीवों की इन्द्रियों की अनुभूति से परे हैं। लेकिन वे मुझ समेत सबों के नियन्ता हैं।

तात्पर्य : भगवद्गीता (७.२४-२५) में भगवान् ने यह स्पष्टतः घोषित किया है कि निर्विशेषवादी जो ब्रह्मज्योति रूप भगवान् की दिव्य किरणों को अधिक महत्त्व देता है तथा यह निष्कर्ष निकालता है कि परम सत्य वास्तव में निर्विशेष है तथा आवश्यकता पड़ने पर अपना रूप प्रकट करता है, ऐसा निर्विशेषवादी सगुणवादी से कम बुद्धिमान होता है, चाहे वह वेदान्त के अध्ययन में कितना ही क्यों न लगा रहे। तथ्य तो यह है कि ऐसा निर्विशेषवादी उपर्युक्त गुणों से आच्छादित रहता है, अतएव वह भगवान् तक पहुँचने में असमर्थ रहता है। भगवान् प्रत्येक व्यक्ति के लिए सुगम्य नहीं हैं, क्योंकि वे अपनी योगमाया शक्ति से आवृत रहते हैं। लेकिन इससे यह त्रुटिपूर्ण निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि भगवान् मूलतः अव्यक्त थे और अब मनुष्य रूप में प्रकट हुए हैं। भगवान् के रूपविहीन होने की यह भ्रान्त धारणा भगवान् के योगमाया आवरण के कारण है और जब बद्धजीव भगवान् की शरण में जाता है, तो परम इच्छा से ही यह दूर हो सकता है। भगवद्भक्त जो उपर्युक्त तीनों गुणों से परे रहते हैं, भक्तिभाव में अपनी प्रेम दृष्टि से उनके सर्व आनन्दमय दिव्य रूप का दर्शन कर सकते हैं।

कालं कर्म स्वभावं च मायेशो मायया स्वया ।

आत्मन् यदृच्छया प्राप्तं विबुधूषुरुपाददे ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

कालम्—नित्य काल; कर्म—जीव का भाग्य; स्वभावम्—प्रकृति; च—भी; माया—शक्ति; ईशः—नियन्ता; मायया—शक्ति से; स्वया—अपनी; आत्मन्—(आत्मनि) अपने को; यदृच्छया—स्वतन्त्रतापूर्वक; प्राप्तम्—तदाकार होकर; विबुधूषुः—भिन्न दिखनेवाले; उपाददे—पुनः सृजित होना स्वीकार किया ।

समस्त शक्तियों के नियन्ता भगवान् अपनी ही शक्ति से नित्य काल, समस्त जीवों के भाग्य तथा उनके विशिष्ट स्वभाव की सृष्टि करते हैं और फिर स्वतन्त्र रूप से उन्हें अपने में विलीन कर

लेते हैं।

तात्पर्य : इस भौतिक संसार की सृष्टि, जिसमें परमेश्वर बद्धजीवों को अपने अधीन रखकर कर्म करने देते हैं, हर बार यह प्रलय के बाद बार बार होता रहता है। भौतिक सृष्टि असीम आकाश में बादल के समान है। वास्तविक आकाश तो आध्यात्मिक आकाश है, जो ब्रह्मज्योति की किरणों से निरन्तर पूर्ण रहता है और इस असीम आकाश का एक अंश भौतिक सृष्टिरूपी महत्त्व के बादल से आच्छादित रहता है, जिसमें भगवान् की बहिरंगा शक्ति के नियन्त्रण में रहकर इच्छानुसार कर्म करने के लिए बद्धजीवों को छोड़ दिया जाता है, जो भगवान् की इच्छा के विरुद्ध अपनी प्रभुता जताना चाहते हैं। जिस प्रकार वर्षा ऋतु हर बार आती है और चली जाती है उसी तरह सृष्टि उत्पन्न होती है और भगवान् के नियन्त्रण में पुनः विलीन हो जाती है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (८.१९) में हुई है। इस तरह भौतिक जगत् की सृष्टि तथा प्रलय भगवान् का नियमित कार्य है, जिसमें बद्धजीवों को इच्छानुसार क्रीड़ा करने और अपना-अपना भाग्य निर्मित करके प्रलय के समय अपनी स्वतन्त्र इच्छाओं के अनुसार पुनः जन्म लेने के लिए छोड़ दिया जाता है। इस तरह सृष्टि एक ऐतिहासिक तिथि से प्रारम्भ होती है (जैसाकि हम अपने अल्प अनुभव से सोचने के आदी हैं)। सृष्टि तथा प्रलय का प्रक्रम *अनादि* है अर्थात् इसकी उत्पत्ति पहले पहल कब हुई, इसका पता नहीं है, क्योंकि आंशिक सृष्टि की ही अवधि ८,६४०,०००,००० वर्ष है, लेकिन वैदिक साहित्य में वर्णित सृष्टि का नियम यह है कि वह कुछ-कुछ अन्तरालों में सृजित होती है और भगवान् की इच्छा से पुनः विनष्ट हो जाती है। सारी भौतिक सृष्टि या आध्यात्मिक सृष्टि भी भगवान् की शक्ति की वैसी ही अभिव्यक्ति है जैसे कि अग्नि का प्रकाश तथा उष्मा अग्नि की शक्ति की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। अतएव भगवान् शक्ति के ऐसे विस्तार द्वारा ही निर्विशेष रूप में विद्यमान रहते हैं और सम्पूर्ण सृष्टि उनके निर्विशेष स्वरूप पर आश्रित है। तो भी वे अपने को ऐसी सृष्टि से *पूर्णम्* के रूप में पृथक् रखते हैं। अतएव किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि वे अपने निर्विशेष असीम विस्तार के कारण साकार रूप में विद्यमान नहीं होते। उनका निर्विशेष विस्तार उनकी शक्ति की अभिव्यक्ति है और वे अपने असंख्य निर्विशेष विस्तारों के होते हुए भी सदा अपने साकार रूप में रहते हैं (*भगवद्गीता* ९.५-७)। मानवी बुद्धि के लिए यह कल्पना कर

पाना अत्यन्त कठिन है कि किस तरह सारी सृष्टि भगवान् की शक्ति के विस्तार पर टिकी है, लेकिन भगवान् ने *भगवद्गीता* में एक बहुत सुन्दर उदाहरण दे रखा है। उसमें कहा है कि यद्यपि वायु तथा परमाणु आकाश के विशाल विस्तार में टिके हैं, जो प्रत्येक भौतिक वस्तु के लिए विश्राम का आगार है, तो भी यह आकाश पृथक् तथा अप्रभावित रहता है। इसी प्रकार यद्यपि परमेश्वर अपनी शक्ति के विस्तार से उत्पन्न प्रत्येक वस्तु का पालन करते हैं, तो भी वे पृथक् रहते हैं। इसे तो निराकार ब्रह्म के प्रबल समर्थक शंकराचार्य तक ने स्वीकार किया है। वे कहते हैं *नारायणः परोऽव्यक्तात्* अर्थात् नारायण अपनी निर्विशेष सृजनात्मक शक्ति से पृथक् विद्यमान हैं। इस तरह, प्रलय के समय यह सारी सृष्टि नारायण के दिव्य शरीर के भीतर लीन हो जाती है और यह सृष्टि पुनः भाग्य तथा स्वभाव की उन्हीं अपरिवर्तित कोटियों समेत उन्हीं के शरीर से उद्भूत होती है। सारे जीव भगवान् के अंश होने के कारण कभी-कभी *आत्मा* के रूप में वर्णित होते हैं—जो आध्यात्मिक संरचना में एक से है। चूँकि ऐसे जीव भौतिक सृष्टि के प्रति पूरी आसक्ति के साथ आकृष्ट होते रहते हैं, अतएव वे भगवान् से भिन्न होते हैं।

कालाद् गुण-व्यतिकरः परिणामः स्वभावतः ।

कर्मणो जन्म महतः पुरुषाधिष्ठितादभूत् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

कालात्—नित्यकाल से; गुण-व्यतिकरः—प्रतिक्रिया द्वारा गुणों का रूपान्तर; परिणामः—रूपान्तर; स्वभावतः—स्वभाव से; कर्मणः—कर्मों से; जन्म—सृष्टि; महतः—महत्त्व का; पुरुष-अधिष्ठितात्—भगवान् के पुरुष-अवतार के कारण; अभूत्—हुआ।

प्रथम पुरुष के अवतार (कारणार्णवशायी विष्णु) के बाद महत्-तत्त्व अथवा भौतिक सृष्टि के तत्त्व अर्थात् भौतिक सृष्टि के सिद्धान्त घटित होते हैं, तब काल प्रकट होता है और काल-क्रम से तीनों गुण प्रकट होते हैं। प्रकृति का अर्थ है तीन गुणात्मक अभिव्यक्तियाँ, जो कार्यों में रूपान्तरित होती हैं।

तात्पर्य : परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता से सारी भौतिक सृष्टि का विकास रूपान्तरण तथा प्रतिक्रियाओं की क्रमागत विधि से होता है और इसी सर्वशक्तिमत्ता से वे क्रमशः समेट लिए जाते हैं और परमेश्वर के शरीर में संरक्षित रहते हैं। काल प्रकृति का पर्यायवाची है और भौतिक सृष्टि के

सिद्धान्तों का रूपान्तरित स्वरूप है। इस तरह काल को सृष्टि का प्रथम कारण माना जा सकता है और प्रकृति के रूपान्तरणों से ही भौतिक जगत के विभिन्न कार्यकलाप दृष्टिगोचर होते हैं। इन कार्यकलापों को ही प्रत्येक जीव या कि जड़ पदार्थों की सहज प्रवृत्ति माना जा सकता है और कार्यकलापों की अभिव्यक्ति के बाद तो उसी के अनुसार नाना प्रकार के फल और प्रतिफल उत्पन्न होते हैं। मूलतः ये सब परमेश्वर के कारण हैं। इसीलिए, वेदान्त-सूत्र तथा भागवत परम सत्य को समस्त सृष्टियों का मूल मानकर चलते हैं (जन्माद्यस्य यतः) ।

महतस्तु विकुर्वाणाद्रजः-सत्त्वोपबृंहितात् ।

तमः-प्रधानस्त्वभवद् द्रव्य-ज्ञान-क्रियात्मकः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

महतः—महत् तत्त्व का; तु—लेकिन; विकुर्वाणात्—रूपान्तरित होकर; रजः—रजोगुण; सत्त्व—सतोगुण; उपबृंहितात्—बढ़ जाने से; तमः—तमोगुण; प्रधानः—प्रमुख होने से; तु—लेकिन; अभवत्—घटित हुआ; द्रव्य—पदार्थ; ज्ञान—भौतिक ज्ञान; क्रिया-आत्मकः—प्रधानतः भौतिक कार्यकलाप।

महत् तत्त्व के विक्षुब्ध होने पर भौतिक क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। सर्वप्रथम सतो तथा रजोगुणों का रूपान्तरण होता है और बाद में तमोगुण के कारण पदार्थ, ज्ञान तथा ज्ञान के विभिन्न कार्यकलाप प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : सभी तरह की भौतिक सृष्टियाँ, न्यूनाधिक रूप में, रजोगुण के विकास से होती हैं। महत् तत्त्व भौतिक सृष्टि का तत्त्व (मूल कारण) है और जब भगवान् की इच्छा से यह विक्षुब्ध होता है, तो सर्वप्रथम रजो तथा सतोगुण प्रकट होते हैं। बाद में विभिन्नप्रकार के भौतिक कार्य-कलापों के द्वारा उत्पन्न रजोगुण मुखर होता है और जीव अधिकाधिक तमोगुण में लिप्त होते जाते हैं। ब्रह्मा रजोगुण के प्रतिनिधि हैं, तो विष्णु सतोगुण के, किन्तु तमोगुण का प्रतिनिधित्व भौतिक कार्य-कलापों के जनक शिवजी द्वारा किया जाता है। भौतिक प्रकृति माता कहलाती है और भौतिक जीवन के प्रवर्तक हैं पिता रूप शिवजी। इसीलिए जीवों द्वारा की गई सारी सृष्टि रजोगुण से प्रसूत है। किसी युग विशेष में, जीवन की अवधि बढ़ने के साथ क्रमिक विकास के कारण विभिन्न गुण कार्यशील होते हैं। कलियुग में (जिसमें तमोगुण प्रधान है) मानवी सभ्यता के विकास के नाम पर विभिन्न प्रकार के भौतिक कार्य-कलाप सम्पन्न होते हैं और जीव अपने असली स्वरूप—आध्यात्मिक स्वरूप—को अधिकाधिक भूलते

जाते हैं। सतोगुण के नाममात्र अनुशीलन से आध्यात्मिक स्वभाव की झलक प्राप्त की जाती है, किन्तु रजोगुण की प्रधानता के कारण सतोगुण मिलावट हो जाती है। अतएव मनुष्य भौतिक गुणों की सीमाओं को लाँघ नहीं पाता, जिससे जीवों के लिए भौतिक गुणों से अतीत रहनेवाले भगवान् का साक्षात्कार कठिन हो जाता है, भले ही ये जीव अनुशीलन की विभिन्न विधियों द्वारा सतोगुण में ही स्थित क्यों न रहें। दूसरे शब्दों में, स्थूल पदार्थ *अधिभूतम्* हैं, उनका पालन अधिदैवम् है और भौतिक कार्यकलापों का शुभारम्भ करनेवाला अध्यात्मम् है। भौतिक जगत में ये तीनों नियम प्रमुख गुणों के रूप में कार्य करते हैं, अर्थात् कच्चा माल, इसकी नियमित पूर्ति तथा मोहग्रस्त जीवों द्वारा इन्द्रिय-भोग के लिए विविध रूपों में इनका उपयोग।

सोऽहङ्कार इति प्रोक्तो विकुर्वन् समभूत्रिधा ।

वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेति यद्विदा ।

द्रव्य-शक्तिः क्रिया-शक्तिर्ज्ञान-शक्तिरिति प्रभो ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

सः—वही; अहङ्कारः—अहंकार; इति—इस प्रकार; प्रोक्तः—कहा गया; विकुर्वन्—रूपान्तरित होकर; समभूत्—प्रकट हुआ; त्रिधा—तीन रूपों में; वैकारिकः—सतो गुणों में; तैजसः—रजोगुण में; च—तथा; तामसः—तमोगुण में; च—भी; इति—इस प्रकार; यत्—जो है; विदा—विभक्त; द्रव्य-शक्तिः—पदार्थ को विकसित करनेवाली शक्ति; क्रिया-शक्तिः—सृजन करने की प्रेरणा; ज्ञान-शक्तिः—मार्गदर्शक बुद्धि; इति—इस तरह; प्रभो—हे स्वामी।

इस प्रकार आत्म-केन्द्रित भौतिकतावादी अहंकार तीनों स्वरूपों में रूपान्तरित होकर सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण बन जाता है। ये तीन स्वरूप हैं : पदार्थ को विकसित करने वाली शक्तियाँ, भौतिक सृष्टियों का ज्ञान तथा ऐसी भौतिकतावादी क्रियाओं का मार्गदर्शन करनेवाली बुद्धि। हे नारद, तुम इसे समझने के लिए पूर्ण सक्षम हो।

तात्पर्य : भौतिकतावादी अहंकार या पदार्थ के साथ पहचान का भाव निपट आत्मकेन्द्रित एवं ईश्वर के अस्तित्व के स्पष्ट ज्ञान से रहित होता है और भौतिकतावादी जीवों का यही आत्म-केन्द्रित अहंकार अन्य वस्तुओं द्वारा उनके बद्ध होने तथा संसार के बन्धन में पड़े रहने का कारण होता है। यह आत्म-केन्द्रित अहंकार *भगवद्गीता* के सप्तम अध्याय में (श्लोक २४ से २७ तक) भलीभाँति समझाया गया है। आत्म-केन्द्रित निर्विशेषवादी भगवान् की स्पष्ट अवधारणा के बिना ही अपने ढंग से यह निष्कर्ष निकालता है कि भगवान् किसी उद्देश्य विशेष से अपने मूल निर्विशेष आध्यात्मिक

अस्तित्व से भौतिक स्वरूप ग्रहण करते हैं। और उसकी भगवान्-सम्बन्धी यह भ्रामक धारणा उसी तरह बनी रहती है, भले ही वह ब्रह्मसूत्र तथा अन्य बौद्धिक ज्ञान जैसे वैदिक साहित्य में रुचि रखता प्रतीत हो। भगवान् के साकार स्वरूप के प्रति यह अज्ञानता विभिन्न गुणों के मिश्रण को न जानने के कारण है। इस प्रकार निर्विशेषवादी भगवान् के सच्चिदानन्द स्वरूप के विषय में धारणा नहीं बना पाते। इसका कारण यह है कि भगवान् यह अधिकार अपने पास सुरक्षित रखते हैं कि वे ऐसे अभक्त के समक्ष प्रकट न हों जो *भगवद्गीता* जैसे ग्रंथ का अध्ययन करने के बाद भी हठ-वश (मूढ़ता से) निर्विशेषवादी बने रहते हैं। यह हठ भगवान् की निजी शक्ति योगमाया के प्रभाव के कारण होता है और हठी निर्विशेषवादी की दृष्टि को आच्छादित करने में सहायक का कार्य करता है। ऐसे मोहग्रस्त व्यक्ति को मूढ़ अर्थात् निपट अज्ञानी कहा जाता है, क्योंकि वह भगवान् के दिव्य रूप को अजन्मा तथा अक्षर समझने में असमर्थ रहता है। यदि भगवान् अपने मूल निर्विशेष स्वरूप से भिन्न कोई स्वरूप या भौतिक आकार ग्रहण करते हैं, तो इसका अर्थ होता है कि वे जन्म लेते हैं और निर्विशेष से साकार रूप में परिवर्तित होते हैं। लेकिन वे परिवर्तनशील नहीं हैं। न ही वे बद्धजीव की भाँति कभी नया जन्म धारण करते हैं। बद्धजीव अपनी भौतिक स्थिति के कारण एक जन्म के बाद दूसरा जन्म ले सकता है, लेकिन आत्म-केन्द्रित निर्विशेषवादी अपनी निरी अज्ञानता वश अहंकार के कारण भगवान् को अपने जैसा मानकर चलते हैं, यद्यपि वेदान्त के ज्ञान में वे तथाकथित रूप से बहुत आगे बढ़े होते हैं। प्रत्येक जीव के हृदय में निवास करने के कारण भगवान् ऐसे जीवों की भूत, वर्तमान तथा भविष्य की प्रवृत्तियों से भलीभाँति अवगत रहते हैं, लेकिन मोहग्रस्त बद्धजीव शायद ही उन्हें उनके शाश्वत रूप में जान सके। अतएव निर्विशेषवादी भगवान् के ब्रह्म तथा परमात्मा स्वरूपों को जान लेने के बाद भी उनके नित्य साकार स्वरूप नारायण से, जो समस्त भौतिक सृष्टि से परे है, अनजान रहते हैं।

ऐसी निपट अज्ञानता (मूढ़ता) का कारण भौतिकतावादी व्यक्ति के द्वारा कृत्रिम रूप से बढ़ती हुई भौतिक माँगों में जगे रहना है। भगवान् की अनुभूति प्राप्त करने के लिए मनुष्य को भक्ति द्वारा भौतिकतावादी इन्द्रियों को शुद्ध करना होता है। सतोगुण या वैदिक साहित्य में वर्णित ब्राह्मण संस्कृति ऐसी आध्यात्मिक अनुभूति कराने में सहायक है। इस तरह बद्धजीव की *ज्ञानशक्ति* अवस्था अन्य दो

अवस्थाओं—द्रव्यशक्ति तथा क्रियाशक्ति—से अच्छी है। समस्त भौतिक संस्कृति पदार्थों के विपुल संग्रह द्वारा या दूसरे शब्दों में, औद्योगिक कार्यों के लिए कच्चे-माल के संग्रह द्वारा व्यक्त होती है और सारे औद्योगिक कार्यकलाप (क्रियाशक्ति) आध्यात्मिक जीवन के प्रति निपट अज्ञान के कारण हैं। द्रव्यशक्ति तथा क्रियाशक्ति के सिद्धान्तों पर आधारित भौतिकतावादी सभ्यता की इस महान् विडम्बना को ठीक करने के लिए भगवद्गीता (९.२७) में व्यक्त कर्मयोग के सिद्धान्तों के अनुसार भक्तियोग को ग्रहण करना होगा। यथा—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

“हे कुन्तीपुत्र! तुम जो भी करो, जो भी खाओ, जो भी अर्पित करो और दान दो तथा जो भी तपस्याएँ करो, वे सब मुझे भेंट के रूप में की जाँय।”

तामसादपि भूतादेर्विकुर्वाणादभून्नभः ।

तस्य मात्रा गुणः शब्दो लिङ्गं यद् द्रष्टृ-दृश्ययोः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

तामसात्—मिथ्या अहंकार के अंधकार से; अपि—निश्चय ही; भूत-आदेः—भौतिक तत्त्वों का; विकुर्वाणात्—रूपान्तरण के कारण; अभूत्—उत्पन्न हुआ; नभः—आकाश; तस्य—उसका; मात्रा—सूक्ष्म रूप; गुणः—गुण; शब्दः—ध्वनि; लिङ्गम्—लक्षण; यत्—जो; द्रष्टृ—द्रष्टा; दृश्ययोः—देखे गये का।

मिथ्या अहंकार के अंधकार से पाँच तत्त्वों में से पहला तत्त्व आकाश उत्पन्न होता है। इसका सूक्ष्म रूप शब्द का गुण है, ठीक उसी प्रकार जिस तरह द्रष्टा का दृश्य से सम्बन्ध होता है।

तात्पर्य : पाँच तत्त्व, जिनके नाम आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी हैं, मिथ्या अहंकार के अंधकार के ही विभिन्न गुण हैं। इसका अर्थ हुआ कि महत् तत्त्व के रूप में मिथ्या अहंकार भगवान् की तटस्था शक्ति से उत्पन्न होता है और भौतिक सृष्टि पर प्रभुता जताने के इस मिथ्या अहंकार के कारण ही जीव के मिथ्या भोग के लिए सारे अवयव उत्पन्न होते हैं। जीव भोक्ता के रूप में भौतिक तत्त्वों के ऊपर प्रधान कारक बना रहता है यद्यपि पृष्ठभूमि में परमेश्वर रहता है। वास्तव में भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई भोक्ता नहीं कहा जा सकता, लेकिन जीव झूठे ही भोक्ता बनना चाहता है। मिथ्या अहंकार का यही मूल है। जब मोहग्रस्त जीव इसकी इच्छा करता है, तो भगवान् की इच्छा से छाया तत्त्व उत्पन्न

होते हैं और जीवों को उनके पीछे उसी तरह दौड़ने दिया जाता है, जिस तरह मृगमरीचिका के पीछे मृग।

यह कहा गया है कि पहले ध्वनि तन्मात्रा उत्पन्न होती है और उसके बाद आकाश तत्त्व निर्माण होता है, और इस श्लोक में पुष्टि की गई है कि वास्तव में ऐसा ही होता है, लेकिन ध्वनि आकाश का सूक्ष्मरूप है और इनमें जो अन्तर है, वह द्रष्टा तथा दृश्य के अन्तर जैसा है। ध्वनि वास्तविक वस्तु का प्रतिरूप है, जिस तरह वस्तु के बारे में बोला हुआ शब्द या ध्वनि उस वस्तु के वर्णन का बोध कराता है। अतएव ध्वनि वस्तु का सूक्ष्म गुण है। इसी प्रकार भगवान् का ध्वनि रूप उनके लक्षणों के सम्बन्ध में भगवान् का पूर्ण रूप है जैसाकि भगवान् कृष्ण तथा भगवान् राम के पिता वसुदेव तथा महाराज दशरथ ने देखा था। भगवान् का ध्वनि रूप साक्षात् भगवान् से अभिन्न है, क्योंकि भगवान् तथा उनका ध्वनि रूप परम ज्ञान हैं। भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने हमें उपदेश दिया है कि भगवान् के पवित्र नाम में, जो भगवान् का ध्वनि रूप है, भगवान् की सारी शक्तियाँ निहित हैं। अतएव भगवान् के पवित्र नाम के ध्वनि रूप के उच्चारण से मनुष्य तुरन्त भगवान् के सान्निध्य का आनन्द उठा सकता है और शुद्ध भक्त को तुरन्त ही भगवान् का स्वरूप प्रकट हो जाता है। अतएव शुद्ध भक्त भगवान् से एक क्षण के लिए भी विलग नहीं होता। अतएव जो भक्त निरन्तर भगवान् के सम्पर्क में रहने की कामना करता है उसे शास्त्रों द्वारा अनुमोदित भगवान् के पवित्र नाम—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—का कीर्तन करना चाहिए। जो इस प्रकार भगवान् का सान्निध्य प्राप्त कर लेता है, वह निश्चित रूप से मिथ्या अहंकार से उत्पन्न जगत के अंधकार से उबर आता है (*तमसो मा ज्योतिर्गमय*)।

नभसोऽथ विकुर्वाणादभूत् स्पर्श-गुणोऽनिलः ।

परान्वयाच्छब्दवांश्च प्राण ओजः सहो बलम् ॥ २६ ॥

वायोरपि विकुर्वाणात् काल-कर्म-स्वभावतः ।

उदपद्यत तेजो वै रूपवत् स्पर्श-शब्दवत् ॥ २७ ॥

तेजसस्तु विकुर्वाणादासीदम्भो रसात्मकम् ।

रूपवत् स्पर्शवच्चांभो घोषवच्च परान्वयात् ॥ २८ ॥

विशेषस्तु विकुर्वाणादम्भसो गन्धवानभूत् ।

परान्वयाद् रस-स्पर्श-शब्द-रूप-गुणान्वितः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

नभसः—आकाश का; अथ—इस प्रकार; विकुर्वाणात्—रूपान्तरित होकर; अभूत्—उत्पन्न हुआ; स्पर्श—स्पर्श; गुणः—गुण; अनिलः—वायु; पर—पूर्ववर्ती, पिछली; अन्वयात्—परम्परा से; शब्दवान्—ध्वनि से पूर्ण; च—भी; प्राणः—प्राण, जीवन; ओजः—इन्द्रिय बोध; सहः—मोटा; बलम्—बल; वायोः—वायु के; अपि—भी; विकुर्वाणात्—रूपान्तरण से; काल—समय; कर्म—पिछले कर्म; स्वभावतः—स्वभाव के अनुसार; उदपद्यत—उत्पन्न हुआ; तेजः—अग्नि; वै—ठीक से; रूपवत्—रूप के साथ; स्पर्श—स्पर्श; शब्दवत्—शब्द के साथ भी; तेजसः—अग्नि का; तु—लेकिन; विकुर्वाणात्—रूपान्तरित होकर; आसीत्—ऐसा हुआ; अम्भः—जल; रस-आत्मकम्—रस से निर्मित; रूपवत्—रूप के साथ; स्पर्शवत्—स्पर्श के साथ; च—तथा; अम्भः—जल; घोषवत्—ध्वनि के साथ; च—तथा; पर—पूर्व; अन्वयात्—परम्परा से; विशेषः—नानारूपता; तु—लेकिन; विकुर्वाणात्—रूपान्तरण से; अम्भसः—जल का; गन्धवान्—सुगन्धित; अभूत्—हो गया; पर—पूर्व; अन्वयात्—परम्परा से; रस—रस; स्पर्श—स्पर्श; शब्द—ध्वनि; रूप-गुण-अन्वितः—गुणात्मक रूप से।

चूँकि आकाश रूपान्तरित होता है, अतएव स्पर्शगुण से युक्त वायु उत्पन्न होती है और पूर्व परम्परा के अनुसार वायु शब्द तथा आयु के मूलभूत तत्त्वों अर्थात् स्पर्श, मानसिक-शक्ति तथा शारीरिक बल से भी पूर्ण होती है। काल तथा प्रकृति के साथ ही जब वायु रूपान्तरित होती है, तो अग्नि उत्पन्न होती है और यह स्पर्श तथा ध्वनि का रूप धारण करती है। चूँकि अग्नि भी रूपान्तरित होती है, अतएव जल प्रकट होता है, जो रस तथा स्वाद से पूरित होता है। परम्परानुसार यह भी रूप, स्पर्श तथा शब्द से परिपूर्ण होता है। और जब यही जल अपनी नानारूपता समेत पृथ्वी में रूपान्तरित होता है, तब वह सुगन्धिमय प्रतीत होता है और परम्परानुसार यह रस, स्पर्श, शब्द तथा रूप के गुणों से पूरित हो उठता है।

तात्पर्य : सम्पूर्ण सृष्टि का प्रक्रम क्रमिक विकास कार्य है तथा एक तत्त्व से दूसरे तत्त्व का विकास है, जिससे पृथ्वी में नानारूपता प्राप्त होती है, जिसमें इतने सारे वृक्ष, पौधे, पर्वत, नदियाँ, सरीसृप, पक्षी, पशु तथा तरह-तरह के मनुष्य मिलते हैं। इन्द्रिय-अनुभूति का गुण भी विकासमान है अर्थात् यह शब्द से उत्पन्न होता है फिर स्पर्श और स्पर्श से रूप बनता है। आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी के क्रमिक विकास के साथ-साथ स्वाद तथा गन्ध भी उत्पन्न होते हैं। वे एक दूसरे के पारस्परिक कारण तथा कार्य होते हैं, किन्तु मूल कारण तो अंशरूप में साक्षात् भगवान् होते हैं, जो महत् तत्त्व के कारण-जलशायी महाविष्णु हैं। इसीलिए ब्रह्म-संहिता में भगवान् कृष्ण को समस्त कारणों का कारण बताया गया है और भगवद्गीता (१०.८) में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है :

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥

इन्द्रिय अनुभूति के सारे गुण पृथ्वी में पूरी तरह से आते हैं और वे ही, कुछ कम हद तक, अन्य तत्त्वों में प्रकट होते हैं। आकाश में केवल शब्द होता है, किन्तु वायु में शब्द तथा स्पर्श दोनों होते हैं। अग्नि में ध्वनि, स्पर्श तथा आकार होते हैं तथा जल में अन्य अनुभूतियों यथा ध्वनि, स्पर्श तथा आकार के अतिरिक्त स्वाद भी होता है। किन्तु पृथ्वी में उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त गन्ध का भी अतिरिक्त विकास होता है। अतएव पृथ्वी पर जीवन की विविधता का पूर्ण प्रदर्शन होता है, उस जीवन का जो मूलतः वायु को मूल तत्त्व मानकर प्रारम्भ होता है। शारीरिक रोग जीवों के भौतिक शरीर के भीतर वायु में विकार आ जाने से होते हैं, मानसिक रोग शरीर के भीतर वायु के विशेष कुपित होने से होता है अतएव योगिक व्यायाम वायु को ठीक से रखने में विशेष लाभप्रद होते हैं और ऐसे व्यायामों से शरीर के रोग प्रायः न के बराबर हो जाते हैं। योगासनों को ठीक से करने पर आयु भी बढ़ती है और ऐसे अभ्यासों से मृत्यु को भी वश में किया जा सकता है। एक पूर्णयोगी मृत्यु पर भी वर्चस्व रख सकता है और ठीक समय पर शरीर को त्याग सकता है किन्तु तभी जब वह अपने को उपर्युक्त लोक तक ले जाने में सक्षम होता है। किन्तु भक्तियोगी समस्त योगियों से बढ़कर होता है क्योंकि वह अपनी भक्ति-मय सेवा से भौतिक आकाश से परे वाले लोक को भेज दिया जाता है और सबों के नियन्ता भगवान् की परम इच्छा से उसे वैकुण्ठ के किसी भी लोक में रखा जाता है।

वैकारिकान्मनो जज्ञे देवा वैकारिका दश ।

दिग्वातार्क-प्रचेतोऽश्वि-वह्नीन्द्रोपेन्द्र-मित्र-काः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

वैकारिकात्—सतो गुण से; मनः—मन; जज्ञे—उत्पन्न किया; देवाः—देवता; वैकारिकाः—सतो गुण में; दश—दस; दिक्—दिशाओं का अधिष्ठाता; वात—वायु का अधिष्ठाता; अर्क—सूर्य; प्रचेतः—वरुण; अश्वि—अश्विनीकुमार; वह्नि—अग्निदेव; इन्द्र—स्वर्ग का राजा; उपेन्द्र—स्वर्ग का देव (श्री विग्रह); मित्र—बारह आदित्यों में से एक; काः—प्रजापति ब्रह्मा ।

सतो गुण से मन उत्पन्न होकर व्यक्त होता है, साथ ही शारीरिक गतियों के नियन्त्रक दस देवता भी प्रकट होते हैं। ऐसे देवता दिशाओं के नियन्त्रक, वायु के नियन्त्रक, सूर्यदेव, दक्ष प्रजापति के पिता, अश्विनीकुमार, अग्निदेव, स्वर्ग का राजा (इन्द्र), स्वर्ग के पूजनीय अर्चाविग्रह, आदित्यों के प्रमुख तथा प्रजापति ब्रह्माजी कहलाते हैं। सभी इस तरह अस्तित्व में

आते हैं।

तात्पर्य : वैकारिक सृष्टि की उदासीन अवस्था है और तेजस सृष्टि का शुभारम्भ है, जबकि तमस अज्ञान के अन्तर्गत इस भौतिक सृष्टि का पूर्ण प्रदर्शन है। फैक्टरियों तथा कार्यशालाओं में 'जीवन की आवश्यकताओं' का निर्माण ही कलियुग में सर्वाधिक प्रमुख है और यही निर्माण अज्ञान की सर्वोच्च अवस्था है। मानव समाज द्वारा ऐसे निर्माणकारी उद्योग तमोगुण में सम्पन्न होते हैं, क्योंकि वास्तव में निर्मित सामग्रियों की कोई आवश्यकता नहीं होती। मानव समाज को मूलतः अपने भरण-पोषण के लिए भोजन की आवश्यकता होती है, सोने के लिए आश्रय, रक्षा के लिए संरक्षण तथा इन्द्रियतृप्ति के लिए वस्तुओं की चाहत होती है। इन्द्रियाँ जीवन के व्यावहारिक चिह्न हैं, जैसाकि अगले श्लोक में बताया जायेगा। मानवीय सभ्यता इन्द्रियों की शुद्धि के लिए है और इन्द्रियतृप्ति के विषयों की पूर्ति केवल आवश्यकता के अनुसार होनी चाहिए, न कि कृत्रिम ऐन्द्रिय आवश्यकताओं को भड़काने के लिए। भोजन, आश्रय, सुरक्षा तथा इन्द्रियतृप्ति—ये भौतिक जीवन की आवश्यकताएँ हैं। अन्यथा अपने शुद्ध मूल जीवन की संदुषण रहित अवस्था में जीव को इनकी आवश्यकताएँ नहीं होतीं। अतएव आवश्यकताएँ कृत्रिम होती हैं और जीवन की विशुद्ध अवस्था में ऐसी आवश्यकताएँ नहीं उठतीं। इस तरह कृत्रिम आवश्यकताएँ बढ़ाना जैसाकि भौतिक सभ्यता का मानक बन गया है या मानव-समाज का आर्थिक विकास करना एक प्रकार से ज्ञान के बिना अन्धकार में हाथ चलाना है। ऐसी व्यस्तता से मनुष्य की शक्ति नष्ट होती है, क्योंकि मानवीय शक्ति इन्द्रियों को शुद्ध करने के लिए है, जिससे उन्हें भगवान् की इन्द्रियों को तुष्ट करने में लगाया जा सके। परमेश्वर समस्त इन्द्रियों के स्वामी हृषीकेश हैं, क्योंकि वे आध्यात्मिक इन्द्रियों के अधिकारी हैं। हृषीक का अर्थ है इन्द्रियाँ तथा ईश का अर्थ है स्वामी। भगवान् इन्द्रियों के दास नहीं हैं दूसरे शब्दों में, वे इन्द्रियों के निर्देश पर नहीं चलते। हाँ, बद्धजीव या जीव विशेष इन्द्रियों के दास होते हैं। वे इन्द्रियों के इशारों पर चलते हैं, इसीलिए यह भौतिक सभ्यता एक प्रकार से इन्द्रियतृप्ति की व्यस्तता मात्र है। मानव सभ्यता का मापदण्ड इन्द्रियतृप्ति रूपी रोग का उपचार होना चाहिए और यदि कोई भगवान् की आध्यात्मिक इन्द्रियों के तुष्ट करने का निमित्त मात्र बन जाये तो ऐसा कर सकता है। इन्द्रियों को कभी उनके व्यापारों से रोकना नहीं चाहिए

अपितु उन्हें इन्द्रियों के स्वामी (हृषीकेश) की इन्द्रियतृप्ति की शुद्ध सेवा में लगाकर उन्हें पवित्र बनाना चाहिए। सम्पूर्ण *भगवद्गीता* का यही उपदेश है। अर्जुन अपने सगे-सम्बन्धियों के साथ युद्ध न करने का निर्णय करके अपनी इन्द्रियों की तुष्टि करना चाह रहा था, लेकिन भगवान् श्रीकृष्ण ने उसे *भगवद्गीता* की शिक्षा दी जिससे वह इन्द्रियतृप्ति सम्बन्धी अपने निर्णय को पवित्र कर सके। अतएव अर्जुन ने भगवान् की इन्द्रियों को तुष्ट करना स्वीकार किया और भगवान् की इच्छानुसार उसने कुरुक्षेत्र के युद्ध में भाग लिया।

वेद हमें अंधकार की स्थिति से निकलकर प्रकाश के मार्ग पर अग्रसर होने का आदेश देते हैं (*तमसि मा ज्योतिर्गम*), अतएव प्रकाश का मार्ग भगवान् की इन्द्रियों की तुष्टि के लिए है। किन्तु जो दिग्भ्रमित हैं या अल्पज्ञ हैं, वे अर्जुन तथा अन्य भगवद्भक्तों द्वारा दिखाये गये मार्ग का पालन करते हुए भगवान् की दिव्य इन्द्रियों को तुष्ट करने का कोई प्रयास किये बिना ही आत्म-साक्षात्कार के पथ का अनुसरण करते हैं। इसके विपरीत वे इन्द्रियों की क्रियाओं को रोकने का कृत्रिम प्रयास करते हैं (योग पद्धति) या भगवान् की दिव्य इन्द्रियों की अवहेलना करते हैं (ज्ञानयोग)। लेकिन भक्तगण योगियों तथा ज्ञानियों के ऊपर होते हैं, क्योंकि वे भगवान् की इन्द्रियों से इनकार नहीं करते; वे तो भगवान् की इन्द्रियों को तुष्ट करना चाहते हैं। ज्ञानी तथा योगी मात्र अपने अज्ञान रूपी अन्धकार के कारण भगवान् की इन्द्रियों को नकारते हैं और कृत्रिम रीति से अपनी रुग्ण इन्द्रियों के कार्यकलापों पर नियन्त्रण प्राप्त करना चाहते हैं। इन्द्रियों के रुग्ण होने पर उनमें भौतिक आवश्यकताओं के प्रति व्यस्तता बढ़ जाती है। जब कोई व्यक्ति इन्द्रियों के कार्यकलापों को बढ़ाने की हानियों को देखता है, तो वह ज्ञानी कहलाता है और जब कोई व्यक्ति योग के नियमों के अभ्यास द्वारा उन्हीं इन्द्रियों के कार्यकलापों को रोकना चाहता है, तो वह योगी कहलाता है, किन्तु जब वही व्यक्ति भगवान् की दिव्य इन्द्रियों से पूर्ण रूप से अवगत हो जाता है और उन इन्द्रियों को तुष्ट करना चाहता है, तो वह भगवद्भक्त कहलाता है। भगवद्भक्त कभी भी भगवान् की इन्द्रियों को नकारते नहीं, न ही वे कृत्रिम रूप से इन्द्रियों के कार्यों को रोकते हैं। किन्तु वे स्वेच्छा से अपनी पवित्र इन्द्रियों को इन्द्रियों के स्वामी की सेवा में लगाते हैं जैसाकि अर्जुन ने किया था और इस तरह वे भगवान् को तृप्त करने की पूर्णता प्राप्त करते हैं, जो सारी सिद्धि का चरम

लक्ष्य है।

तैजसात् तु विकुर्वाणादिन्द्रियाणि दशाभवन् ।
ज्ञान-शक्तिः क्रिया-शक्तिर्बुद्धिः प्राणश्च तैजसौ ।
श्रोत्रं त्वग्घ्राण-दृग्जिह्वा वाग्दोर्मेढ्राङ्घ्रि-पायवः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तैजसात्—रजोगुणी अहंकार से; तु—लेकिन; विकुर्वाणात्—रूपान्तरण से; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; दश—दस; अभवन्—उत्पन्न की गईं; ज्ञान-शक्तिः—ज्ञान प्राप्त करने की पाँच इन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ; क्रिया-शक्तिः—कार्य की पाँच इन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ; बुद्धिः—बुद्धि; प्राणः—जीवनशक्ति; च—भी; तैजसौ—रजोगुण के सारे पदार्थ; श्रोत्रम्—सुनने की इन्द्रिय; त्वक्—स्पर्शेन्द्रिय; घ्राण—सूँघने की इन्द्रिय; दृक्—देखने की इन्द्रिय; जिह्वा—स्वाद लेने की इन्द्रिय; वाक्—बोलने की इन्द्रिय; दोः—ग्रहण करने की इन्द्रिय; मेढ्र—जननेन्द्रिय; अङ्घ्रि—पाँव; पायवः—मल-विसर्जन इन्द्रिय।

रजोगुण में और अधिक विकार आने से बुद्धि तथा प्राण के साथ ही श्रवण, त्वचा, नाक, आँख, जीभ, मुँह, हाथ, जननेन्द्रिय, पाँव तथा मल विसर्जन की इन्द्रियाँ सभी उत्पन्न होती हैं।

तात्पर्य : भौतिक जगत में जीवन न्यूनाधिक रूप में बुद्धि तथा प्राणशक्ति पर निर्भर करता है। कठिन जीवन-संघर्ष का सामना करने के लिए ज्ञानेन्द्रियाँ बुद्धि की सहायता करती हैं और प्राणशक्ति की धारणा हाथ तथा पाँव जैसी सक्रिय इन्द्रियों के संचालन से होती है। अतएव कुल मिलाकर यह जीवन-संघर्ष रजोगुण का कार्यान्वयन होता है। अतएव बुद्धि तथा प्राण समेत सारी इन्द्रियाँ प्रकृति के द्वितीय गुण, रजोगुण, के विविध उत्पाद तथा उपोत्पाद हैं। किन्तु यह रजोगुण वायु तत्त्व से उत्पन्न है जैसाकि पहले कहा जा चुका है।

यदैतेऽसङ्गता भावा भूतेन्द्रिय-मनो-गुणाः ।
यदायतन-निर्माणे न शेकुर्ब्रह्म-वित्तम ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब तक; एते—ये सब; असङ्गताः—एकत्र हुए बिना; भावाः—इस तरह स्थित होकर; भूत—तत्त्व; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; मनः—मन; गुणाः—प्रकृति के गुण; यदा—जब तक; आयतन—शरीर; निर्माणे—निर्मित होता रहता है; न शेकुः—सम्भव नहीं था; ब्रह्म-वित्त-तम—हे दिव्य ज्ञान के दाता नारद।

हे योगियों में श्रेष्ठ नारद, जब तक ये सृजित अंग यथा तत्त्व, इन्द्रियाँ, मन तथा प्रकृति के गुण जुड़ नहीं जाते, तब तक शरीर स्वरूप धारण नहीं कर सकता।

तात्पर्य : जीवों की विविध प्रकार की शरीर-संरचनाएँ उन विभिन्न प्रकार की मोटर-कारों जैसी हैं, जिन्हें विभिन्न पूजों को जोड़ करके निर्मित किया जाता है। जब मोटरकार तैयार हो जाती है, तो

चालक उसमें बैठकर अपनी इच्छानुसार उसे चलाता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१८.६१) में भी हुई है—जीव मानो शरीर रूपी यंत्र पर आरूढ़ है और शरीर रूपी मोटरकार प्रकृति के वश में रहकर चलती-फिरती है, ठीक उसी तरह जिस तरह रेलगाड़ियाँ नियन्त्रक के मार्ग-निर्देशन में रहकर चलती हैं। लेकिन ये जीव शरीर नहीं हैं, वे तो शरीर रूपी यान से पृथक् होते हैं। लेकिन अल्पज्ञ भौतिक विज्ञानी शरीर के अंगों के जोड़े जाने की विधि को नहीं जान पाता जो इन्द्रिय, मन तथा गुण के रूप में होते हैं। प्रत्येक जीव आध्यात्मिक स्फुलिंग है, परम पुरुष का अंश है और जिस तरह पिता पुत्र के प्रति दयालु होता है उसी तरह भगवत्कृपा से प्रत्येक जीव को स्वल्प स्वतन्त्रता दी गई है कि वह प्रकृति के गुणों पर प्रभुता जता कर स्वेच्छा से कर्म करे। जिस प्रकार पिता रोते हुए बालक को चुप करने के लिए खिलौने थमा देता है उसी तरह, भगवान् की इच्छा से, मोहग्रस्त जीवों को भगवान् के प्रतिनिधि के नियंत्रण में अपनी-अपनी इच्छित वस्तुओं पर प्रभुता जताने की छूट देने के लिए सारी भौतिक सृष्टि बनी हुई है। सारे जीव उन छोटे छोटे बालकों की भाँति भौतिक क्रीड़ा-क्षेत्र में खेल रहे हैं जिनकी निगरानी भगवान् की दासी (प्रकृति) कर रही है। वे इस दासी या माया को सर्वेसर्वा मानकर परम सत्य को स्त्री (दुर्गादेवी आदि) मान बैठते हैं। मूर्ख बाल-तुल्य भौतिकतावादी दासी प्रकृति की अवधारणा से ऊपर नहीं उठ पाते, किन्तु भगवान् के बुद्धिमान सयाने पुत्र भलीभाँति जानते हैं कि प्रकृति के सारे कार्य भगवान् द्वारा उसी प्रकार नियन्त्रित होते हैं जिस तरह दासी अविकसित बालकों के पिता-रूप अपने मालिक के अधीन रहती है।

शरीर के अंग, यथा इन्द्रियाँ महत्तत्त्व द्वारा निर्मित हैं और जब भगवान् की इच्छा से ये अंग एक साथ जुड़ जाते हैं, तो भौतिक शरीर अस्तित्व में आता है और जीव को इसे अपने आगे के कार्यों के लिए उपयोग में लाने दिया जाता है। इसकी व्याख्या आगे दी गई है।

तदा संहत्य चान्योन्यं भगवच्छक्ति-चोदिताः ।

सदसत्त्वमुपादाय चोभयं ससृजुर्हृदः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तदा—वे सब; संहत्य—समवेत होकर; च—भी; अन्योन्यम्—एक दूसरे को; भगवत्—भगवान् द्वारा; शक्ति—शक्ति; चोदिताः—प्रयुक्त होकर; सत्-असत्त्वम्—मूलतः तथा गौणतः; उपादाय—स्वीकार करके; च—भी; उभयम्—दोनों; ससृजुः—उत्पन्न हुआ; हि—निश्चय ही; अदः—यह संसार।

जब पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शक्ति के बल से ये सब एकत्र हो गये तो सृष्टि से मूल तथा गौण कारणों को स्वीकार करते हुए यह ब्रह्माण्ड अस्तित्व में आया।

तात्पर्य : इस श्लोक में स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि सृष्टि के लिए भगवान् अपनी विभिन्न शक्तियाँ प्रयुक्त करते हैं। ऐसा नहीं है कि वे स्वयं भौतिक जगत में रूपान्तरित हो जाते हैं। वे अपनी विभिन्न शक्तियों द्वारा तथा अपने पूर्ण अंशों द्वारा अपना विस्तार करते हैं। कभी-कभी ब्रह्मज्योति के आध्यात्मिक आकाश के एक कोने में आध्यात्मिक बादल प्रकट होता है और इस तरह आच्छादित भाग महत् तत्त्व कहलाता है। तब भगवान् अपने महाविष्णु अंश द्वारा इस महत्त्व के जल में शयन करते हैं और इस जल को कारणार्णव अर्थात् कारण-जल कहा जाता है। जब महाविष्णु इस कारण-जल में सोते रहते हैं, तो उनकी श्वास के साथ असंख्य ब्रह्माण्ड जन्म लेते रहते हैं। ये ब्रह्माण्ड तैरते रहते हैं और समस्त कारण-जल में चारों ओर बिखर जाते हैं। वे महाविष्णु की श्वास के समय तक ही टिके रहते हैं। यही महाविष्णु पुनः गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रवेश करते हैं और वहाँ यह नाग जैसे शेष-अवतार पर लेटे रहते हैं। उनकी नाभि से कमलनाल फूट निकलता है और इस कमल के ऊपर ब्रह्माण्ड के स्वामी ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं। तब वे इस ब्रह्माण्ड के भीतर सभी प्रकार के जीवों को अपनी इच्छानुसार विभिन्न प्रकार का आकार प्रदान करते हैं। वे सूर्य, चन्द्रमा तथा अन्य देवताओं को भी उत्पन्न करते हैं।

अतएव इस भौतिक सृष्टि के मुख्य शिल्पी स्वयं भगवान् हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (९.१०) में पुष्टि हुई है। वे ही प्रकृति को सारे चर तथा अचर प्राणियों को उत्पन्न करने के लिए निर्देश करते हैं।

भौतिक सृष्टि दो प्रकार की है—महाविष्णु द्वारा सामूहिक ब्रह्माण्डों की सृष्टि, जैसा ऊपर बताया गया है तथा एकाकी ब्रह्माण्ड की सृष्टि। इन दोनों का सृजन भगवान् द्वारा होता है और इस तरह ब्रह्माण्ड अपना स्वरूप धारण करता है जैसा हम देख सकते हैं।

वर्ष-पूग-सहस्रान्ते तदण्डमुदकेशयम् ।

काल-कर्म-स्वभाव-स्थो जीवोऽजीवमजीवयत् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

वर्ष-पूग—अनेक वर्ष; सहस्र-अन्ते—हजारों वर्षों का; तत्—वह; अण्डम्—ब्रह्माण्ड; उदके—कारण-जल में; शयम्—डूबकर; काल—नित्य समय; कर्म—कर्म; स्वभाव-स्थः—प्रकृति के गुणों के अनुसार; जीवः—जीवों के स्वामी; अजीवम्—अचर; अजीवयत्—जीवित किया।

इस प्रकार सारे ब्रह्माण्ड हजारों युगों तक जल के भीतर (कारण-जल में) पड़े रहे। समस्त जीवों के स्वामी ने उन सबमें प्रवेश करके उन्हें पूरी तरह सजीव बनाया।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् को जीव कहा गया है, क्योंकि वे अन्य सारे जीवों के नायक हैं। वेदों में उन्हें नित्य, समस्त नित्यों का नायक कहा गया है। जीवों के साथ भगवान् का सम्बन्ध वैसा ही है जैसा पिता का पुत्रों के साथ। गुणात्मक रूप में पुत्र तथा पिता समान होते हैं, किन्तु पिता न तो पुत्र होता है, न पुत्र कभी उत्पन्न करनेवाला पिता होता है। इस तरह, जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, गर्भोदकशायी विष्णु या हिरण्यगर्भ परमात्मा प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रवेश कर जाते हैं और प्रकृति के गर्भ से जीवों को उत्पन्न करके उसे सजीव बनाते हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.३) में पुष्टि हुई है। भौतिक सृष्टि के प्रत्येक प्रलय के बाद, सारे जीव भगवान् के शरीर में लीन हो जाते हैं और सृष्टि की समाप्ति पर वे पुनः भौतिक शक्ति के रूप में गर्भस्थ होते हैं। अतएव भौतिक जगत में भौतिक शक्ति ही जीवों की माता और भगवान् उनके पिता प्रतीत होते हैं। तथापि जब जीवन प्रदान किया जाता है, तो सारे जीव काल तथा शक्ति के वशीभूत होकर अपना स्वाभाविक कार्य पुनः करने लगते हैं और इस तरह नाना प्रकार के जीव प्रकट होते हैं। अतएव भगवान् ही इस जगत को सजीव बनाने के कारणस्वरूप हैं।

स एव पुरुषस्तस्मादण्डं निर्भिद्य निर्गतः ।

सहस्रोर्वङ्घ्रि-बाह्वक्षः सहस्रानन-शीर्षवान् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (भगवान्); एव—साक्षात्; पुरुषः—भगवान्; तस्मात्—ब्रह्माण्ड के भीतर से; अण्डम्—हिरण्यगर्भ; निर्भिद्य—विभाजित करके; निर्गतः—बाहर निकल आया; सहस्र—हजारों; ऊरु—जाँघें; अङ्घ्रि—पाँव; बाहु—भुजाएँ; अक्षः—आँखें; सहस्र—हजारों; आनन—मुँह; शीर्षवान्—सिर सहित।

यद्यपि भगवान् (महाविष्णु) कारणार्णव में शयन करते रहते हैं, किन्तु वे उससे बाहर निकल कर और अपने को हिरण्यगर्भ के रूप में विभाजित करके प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट हो गये और उन्होंने हजारों-हजारों पाँव, भुजा, मुँह, सिर वाला विराट रूप धारण कर लिया।

तात्पर्य : प्रत्येक ब्रह्माण्ड के भीतर लोकों का विस्तार भगवान् के विराट रूप के विभिन्न अंगों के रूप में होता है, जिनका वर्णन अगले श्लोक में हुआ है।

यस्येहावयवैर्लोकान् कल्पयन्ति मनीषिणः ।

कट्यादिभिरधः सप्त सप्तोर्ध्वं जघनादिभिः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; इह—इस ब्रह्माण्ड में; अवयवैः—शरीर के अंगों के द्वारा; लोकान्—सारे लोक; कल्पयन्ति—कल्पना करते हैं; मनीषिणः—बड़े-बड़े दार्शनिक; कटि-आदिभिः—कमर से नीचे; अधः—नीचे की ओर; सप्त—सात लोक; सप्त ऊर्ध्वम्—तथा सात लोक ऊपर की ओर; जघन-आदिभिः—सामने का हिस्सा।

बड़े-बड़े दार्शनिक कल्पना करते हैं कि ब्रह्माण्ड में सारे लोक भगवान् के विराट शरीर के विभिन्न ऊपरी तथा निचले अंगों के प्रदर्शन हैं।

तात्पर्य : कल्पयन्ति शब्द महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है 'कल्पना करते हैं।' भगवान् का विराट रूप उन दार्शनिकों की कल्पना है, जो भगवान् श्रीकृष्ण के दो भुजाओं वाले शाश्वत रूप को नहीं मानते। यद्यपि महान् दार्शनिकों द्वारा कल्पित भगवान् का विराट रूप भगवान् के स्वरूपों में से एक है, किन्तु यह न्यूनाधिक काल्पनिक ही है। कहा गया है कि सात ऊर्ध्वलोक इस विराट रूप की कटि के ऊपर स्थित हैं और सात अधोलोक उनकी कटि के नीचे स्थित हैं। कहने का भाव यह है कि भगवान् अपने शरीर के प्रत्येक अंग से अवगत हैं और सृष्टि का कोई भी भाग उनके नियन्त्रण से परे नहीं है।

पुरुषस्य मुखं ब्रह्म क्षत्रमेतस्य बाहवः ।

ऊर्वोवैश्यो भगवतः पद्भ्यां शूद्रो व्यजायत ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

पुरुषस्य—भगवान् का; मुखम्—मुँह; ब्रह्म—ब्राह्मण हैं; क्षत्रम्—क्षत्रिय; एतस्य—इसके; बाहवः—भुजाएँ; ऊर्वोः—जाँघें; वैश्यः—वणिक् वर्ग; भगवतः—भगवान् के; पद्भ्याम्—पाँवों से; शूद्रः—श्रमिक वर्ग; व्यजायत—प्रकट हुआ।

ब्राह्मण वर्ग भगवान् के मुख का, क्षत्रिय उनकी भुजाओं का और वैश्य उनकी जाँघों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जबकि शूद्र वर्ग उनके पाँवों से उत्पन्न हुआ है।

तात्पर्य : सारे जीव भगवान् के अंश बताये जाते हैं। इस श्लोक में बताया गया है कि वे ऐसे किस तरह हैं। मानव समाज के चार विभाग हैं—बुद्धिमानवर्ग (ब्राह्मण), प्रशासकवर्ग (क्षत्रिय), व्यापारीवर्ग (वैश्य) तथा श्रमिकवर्ग (शूद्र)। ये सब भगवान् के शरीर के विविध अंग हैं। इस तरह कोई भी वर्ग

भगवान् से भिन्न नहीं है। मुँह तथा पाँव स्वाभाविक दृष्टि से अभिन्न हैं, किन्तु शरीर में गुण की दृष्टि से मुँह या सिर पाँवों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। लेकिन साथ ही साथ मुँह, पाँव, भुजाएँ तथा जाँघे शरीर के अवयव हैं। भगवान् के शरीर के ये अंग परम पूर्ण सेवा के निमित्त हैं। मुँह बोलने तथा खाने के लिए हैं, भुजाएँ शरीर की रक्षा के लिए हैं, पाँव शरीर को इधर-उधर ले जाने के लिए होते हैं तथा कमर शरीर को स्थित रखने के लिए होती है। अतएव समाज के बुद्धिमान वर्ग को विराट रूप का मुख होने के नाते, बोलना चाहिए और शरीर की क्षुधा-तृप्ति के लिए भोजन भी करना चाहिए। भगवान् की क्षुधा यज्ञ के फल को ग्रहण करना है। बुद्धिमान वर्ग या ब्राह्मणों को ऐसे यज्ञ सम्पन्न करने में अत्यन्त कुशल होना चाहिए और अधीन वर्गों को चाहिए कि ऐसे यज्ञों में हाथ बँटाये। परमेश्वर के लिए बोलने का अर्थ है भगवान् के असली स्वभाव का एवं सम्पूर्ण शरीर के अन्य समस्त भागों की स्थिति का प्रसार करना। इसीलिए ब्राह्मणों को ज्ञान के चरम स्रोत वेदों को जानना चाहिए। वेद का अर्थ है ज्ञान तथा अन्त का अर्थ है उसका छोर। *भगवद्गीता* के अनुसार भगवान् समस्त वस्तुओं के स्रोत हैं (*अहं सर्वस्य प्रभवः*) और इस तरह ज्ञान का अन्त (*वेदान्त*) भगवान् को जानने, भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को जानने तथा इस सम्बन्ध के अनुसार कार्य करने में है। जिस तरह शरीर के अंग शरीर से सम्बन्धित होते हैं, उसी प्रकार जीव को भगवान् के साथ अपना सम्बन्ध जानना चाहिए। मनुष्य-जीवन विशेष रूप से इसी प्रयोजन के लिए अर्थात् भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को जानने के लिए मिला है। इस सम्बन्ध को जाने बिना मनुष्य-जीवन व्यर्थ है। इसीलिए बुद्धिमान वर्ग के लोगों या ब्राह्मणों का विशेष उत्तरदायित्व है कि भगवान् के साथ हमारे इस सम्बन्ध का प्रसार करें और सामान्य जनता को सही मार्ग पर लायें। प्रशासक वर्ग जीवों की रक्षा के निमित्त है, जिससे सारे जीव इस प्रयोजन में सफल रहें। व्यापारी वर्ग अन्न उत्पन्न करने तथा उसे सारे समाज में वितरित करने के लिए है, जिससे सारी जनता को अवसर मिले कि वे सुखपूर्वक रह सकें और मनुष्य जीवन के कर्तव्यों को निभा सकें। व्यापारी वर्ग का यह भी दायित्व है कि वह गायों को सुरक्षा प्रदान करे, जिससे पर्याप्त दुग्ध तथा दुग्ध-उत्पाद प्राप्त हों। इन्हीं से समुचित स्वास्थ्य तथा बुद्धि प्राप्त हो सकती हैं, जो परम सत्य के ज्ञान के निमित्त सभ्यता को स्थापित रखने में समर्थ हैं। श्रमिक वर्ग, जो न तो बुद्धिमान होता है न शक्तिमान,

वह अन्य उच्चतर वर्गों की सेवा करके सहायता पहुँचा सकता है और उनके सहयोग से लाभान्वित हो सकता है। अतएव यह ब्रह्माण्ड भगवान् के परिप्रेक्ष्य में एक पूर्ण इकाई है। भगवान् के साथ इस सम्बन्ध के अभाव में सारा मानव समाज अस्त-व्यस्त रहता है, उसमें शान्ति तथा सम्पन्नता नहीं रहती। इसकी पुष्टि वेदों में हुई है—*ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहूराजन्यः कृतः ।*

**भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः ।
हृदा स्वर्लोक उरसा महर्लोको महात्मनः ॥ ३८ ॥**

शब्दार्थ

भूः—पाताल तक सारे अधःलोक; लोकः—लोक; कल्पितः—कल्पना किया गया या कहा गया; पद्भ्याम्—पाँवों से; भुवः—ऊर्ध्व; लोकः—लोक; अस्य—उसकी (भगवान् की); नाभितः—नाभि से; हृदा—हृदय से; स्वर्लोकः—देवताओं द्वारा निवासित लोक; उरसा—वक्षस्थल से; महर्लोकः—ऋषियों मुनियों से विभूषित लोक; महा-आत्मनः—भगवान् का ।

पृथ्वी-तल तक सारे अधोलोक उनके पाँवों में स्थित हैं। भुवर्लोक इत्यादि मध्य लोक उनकी नाभि में स्थित हैं और इनसे भी उच्चतर लोक, जो देवताओं तथा सुसंस्कृत ऋषियों-मुनियों द्वारा निवासित हैं, वे भगवान् के वक्षस्थल में स्थित हैं।

तात्पर्य : इस ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत चौदह लोक हैं। अधोलोक भूर्लोक कहलाते हैं, बीच के भुवर्लोक तथा ब्रह्माण्ड तक के सर्वोच्च लोक ब्रह्मलोक है, वहाँ तक के सारे ऊर्ध्वलोक स्वर्लोक कहलाते हैं। ये सभी लोक भगवान् के शरीर में स्थित हैं। दूसरे शब्दों में, इस ब्रह्माण्ड के भीतर कोई ऐसा लोक नहीं है, जिसका सम्बन्ध भगवान् के साथ न हो।

**ग्रीवायां जनलोकोऽस्य तपोलोकः स्तन-द्वयात् ।
मूर्धभिः सत्यलोकस्तु ब्रह्मलोकः सनातनः ॥ ३९ ॥**

शब्दार्थ

ग्रीवायाम्—गर्दन तक; जनलोकः—जनलोक; अस्य—उसका; तपोलोकः—तपोलोक; स्तन-द्वयात्—वक्षस्थल से प्रारम्भ होकर; मूर्धभिः—सिर से; सत्यलोकः—सत्यलोक; तु—लेकिन; ब्रह्मलोकः—आध्यात्मिक लोक; सनातनः—शाश्वत ।

भगवान् के विराट रूप के वक्षस्थल से गर्दन तक के प्रदेश में जनलोक तथा तपोलोक स्थित हैं जबकि सर्वोच्च लोक, सत्यलोक, इस विराट रूप के सिर पर स्थित है। किन्तु आध्यात्मिक लोक शाश्वत हैं।

तात्पर्य : इसी ग्रंथ में हम अनेक बार बता चुके हैं कि आध्यात्मिक लोक भौतिक आकाश से परे

स्थित हैं और इस श्लोक से उस वर्णन की पुष्टि होती है। यहाँ पर सनातन शब्द महत्त्वपूर्ण है। *भगवद्गीता* (८.२०) में नित्यता का यही भाव व्यक्त हुआ है, जहाँ यह कहा गया है कि इस भौतिक जगत के परे आध्यात्मिक आकाश है, जहाँ प्रत्येक वस्तु शाश्वत है। कभी-कभी सत्यलोक, जहाँ ब्रह्मा निवास करते हैं, ब्रह्मलोक भी कहा जाता है। किन्तु यहाँ जिस ब्रह्म-लोक का उल्लेख हुआ है, वह सत्यलोक नहीं है। यह ब्रह्मलोक शाश्वत है, जबकि सत्यलोक शाश्वत नहीं होता। इन दोनों में अन्तर बताने के लिए सनातन विशेषण का प्रयोग किया गया है। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार, ब्रह्मलोक ब्रह्म या परमेश्वर का लोक या आवास है। आध्यात्मिक आकाश में सारे लोक साक्षात् भगवान् जैसे हैं। भगवान् परमात्मा हैं और उनका नाम, यश, गुण, लीलाएँ इत्यादि उनसे अभिन्न हैं, क्योंकि वे परम पूर्ण हैं। इस तरह भगवान् के धाम के लोक भी उनसे अभिन्न हैं। उन लोकों में न तो शरीर तथा न आत्मा में कोई अन्तर होता है, न वहाँ इस जगत में अनुभव किये जानेवाले काल का प्रभाव ही है। वहाँ पर काल का प्रभाव न होने के अतिरिक्त ब्रह्मलोक के सारे लोक आध्यात्मिक होने के कारण, कभी विनष्ट नहीं होते। आध्यात्मिक लोकों की सारी विविधता भगवान् से तदाकार है। अतएव इस वैदिक सूक्ति *एकम् एवाद्वितीयम्* की पूरी-पूरी अनुभूति उस विविधतामय आकाश में हो जाती है। यह भौतिक जगत भगवान् के आध्यात्मिक जगत की मृगमरीचिका मात्र है। छाया होने के कारण यह कभी शाश्वत नहीं होता। इस द्वैतपूर्ण (आत्मा तथा पदार्थ) भौतिक जगत की विविधता की तुलना आध्यात्मिक जगत से नहीं की जा सकती। कभी-कभी अल्पज्ञानी व्यक्ति ज्ञान के अभाव में छाया रूपी संसार को आध्यात्मिक जगत के तुल्य मान बैठते हैं और इस तरह से वे इस संसार में भगवान् तथा उनकी लीलाओं को और बद्धजीव तथा उनके कार्यकलापों को एक समान मान लेते हैं। भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.११) में ऐसे अल्पज्ञों की भर्त्सना की है।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥

जब भी भगवान् अवतरित होते हैं, तो वे अपनी पूर्ण अंतरंगा शक्ति (आत्ममाया) से ऐसा करते हैं, किन्तु अल्पज्ञ उन्हें भौतिक सृष्टि में से एक समझ बैठते हैं। अतएव इस श्लोक की टीका करते हुए

श्रील श्रीधर स्वामी ठीक ही कहते हैं कि यहाँ पर उल्लिखित ब्रह्मलोक वैकुण्ठ है, जो सनातन है, अतएव वह पूर्व-वर्णित भौतिक सृष्टियों जैसा नहीं है। भगवान् का विराट स्वरूप भौतिक जगत की कल्पना है। इसका आध्यात्मिक जगत या भगवान् के धाम से कोई सरोकार नहीं है।

तत्कट्यां चातलं क्लृप्तमूरुभ्यां वितलं विभोः ।

जानुभ्यां सुतलं शुद्धं जङ्घाभ्यां तु तलातलम् ॥ ४० ॥

महातलं तु गुल्फाभ्यां प्रपदाभ्यां रसातलम् ।

पातालं पाद-तलत इति लोकमयः पुमान् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

तत्—उसकी; कट्याम्—कमर में; च—भी; अतलम्—पृथ्वी के नीचे प्रथम लोक; क्लृप्तम्—स्थित; ऊरुभ्याम्—जाँघों में; वितलम्—नीचे का द्वितीय लोक; विभोः—भगवान् का; जानुभ्याम्—घुटनों में; सुतलम्—नीचे का तृतीय लोक; शुद्धम्—शुद्ध; जङ्घाभ्याम्—जोड़ों में; तु—लेकिन; तलातलम्—नीचे का चौथा लोक; महातलम्—नीचे का पाँचवाँ लोक; तु—लेकिन; गुल्फाभ्याम्—टखने या पिण्डलियों में; प्रपदाभ्याम्—पाँवों के ऊपरी या सामने के भाग पर; रसातलम्—नीचे का छठा लोक; पातालम्—नीचे का सातवाँ लोक; पाद-तलतः—पाँवों के तलुओं में; इति—इस प्रकार; लोक-मयः—लोकों से पूर्ण; पुमान्—भगवान्।

हे पुत्र नारद, तुम मुझसे जान लो कि चौदह लोकों में से सात अधोलोक हैं। इनमें पहला लोक अतल है, जो कटि में स्थित है, दूसरा लोक वितल जाँघों में स्थित है, तीसरा लोक सुतल घुटनों में, चौथा लोक तलातल पिण्डलियों में, पाचवाँ लोक महातल टखनों में, छठा लोक रसातल है, जो पाँवों के ऊपरी भाग में स्थित है तथा सातवाँ लोक पाताल लोक है, जो तलवों में स्थित है। इस प्रकार भगवान् का विराट रूप समस्त लोकों से पूर्ण है।

तात्पर्य : आधुनिक साहसिक व्यक्ति (अन्तरिक्ष यात्री) श्रीमद्भागवत से यह सूचना प्राप्त कर सकते हैं कि अन्तरिक्ष में चौदह लोक हैं। इनकी स्थिति पृथ्वी लोक से परिगणित की जाती है, जिसे भूलोक कहा जाता है। भूलोक के ऊपर भुवलोक है और सबसे ऊपरी लोक सत्यलोक है। ये सात ऊर्ध्व लोक हैं। इसी प्रकार सात अधोलोक हैं, जिनके नाम हैं—अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल तथा पाताल लोक। ये सभी लोक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में बिखरे हुए हैं और इस ब्रह्माण्ड का क्षेत्रफल २०० करोड़ गुणा २०० करोड़ वर्गमील है। आधुनिक अन्तरिक्ष-यात्री पृथ्वी से कुछ हजार मील दूरी तक ही यात्रा कर सकते हैं, अतएव आकाश में यात्रा करने का उनका प्रयास, विस्तीर्ण सागर के तट पर बच्चे के खिलवाड़ जैसा है। चन्द्रमा ऊर्ध्वलोकों के तीसरे स्तर पर स्थित है और

श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध से हम अपार भौतिक आकाश में बिखरे विभिन्न लोकों की दूरी जान सकते हैं। हम जिस लोक में रह रहे हैं, उसके परे असंख्य ब्रह्माण्ड हैं और ये सभी मिलाकर उस आध्यात्मिक आकाश का, जिसे ऊपर सनातन ब्रह्मलोक कहा गया है, एक नगण्य अंश मात्र है। भगवान् भगवद्गीता के निम्नलिखित श्लोक (८.१६) में बुद्धिमान मनुष्यों को कृपापूर्वक अपने धाम वापस बुलाते हैं।

आब्रह्मभुवनाँल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥

ब्रह्माण्ड का सर्वोच्च लोक, सत्यलोक, जो शाश्वत ब्रह्मलोक के नीचे स्थित है और जिसका वर्णन ऊपर दिया गया है तथा अन्य सारे लोक भौतिक हैं। इन भौतिक लोकों में किसी व्यक्ति का स्थान अब भी प्रकृति के नियमों अर्थात् जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग के अधीन है। किन्तु जब मनुष्य नित्य ब्रह्मलोक के सनातन आकाश में, जो ईश्वर का धाम है, प्रवेश करता है, तो उसे उपर्युक्त भौतिक कष्टों से पूर्ण मुक्ति मिल जाती है। अतएव चिन्तनशील दार्शनिकों (ज्ञानियों) तथा योगियों द्वारा कल्पित मुक्ति तभी प्राप्त होती है, जब कोई भगवान् का भक्त बन जाता है। जो भगवद्भक्त नहीं है, वह भगवद्धाम में प्रविष्ट नहीं हो सकता। आध्यात्मिक स्थिति में सेवावृत्ति की प्राप्ति द्वारा ही मनुष्य भगवद्धाम में प्रवेश कर सकता है। अतएव दार्शनिकों तथा योगियों को सर्वप्रथम भक्ति-सम्प्रदाय की ओर आकृष्ट होना चाहिए, तभी वे वास्तव में मुक्ति-लाभ कर सकते हैं।

भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः ।

स्वर्लोकः कल्पितो मूर्ध्ना इति वा लोक-कल्पना ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

भूर्लोकः—पाताल से लेकर धरालोक तक के समग्र लोक; कल्पितः—कल्पना पर आधारित; पद्भ्याम्—पाँवों पर स्थित; भुवर्लोकः—भुवर्लोक; अस्य—भगवान् के विश्व-रूप की; नाभितः—नाभि से; स्वर्लोकः—स्वर्गलोक से प्रारम्भ होने वाले ऊर्ध्व लोक; कल्पितः—कल्पना किये गये; मूर्ध्ना—वक्षस्थल से लेकर सिर तक; इति—इस प्रकार; वा—अथवा; लोक—लोक; कल्पना—कल्पना।

अन्य लोग सम्पूर्ण लोकों को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं। इनके नाम हैं—परम पुरुष के पाँवों पर अधोलोक (पृथ्वी तक), नाभि पर मध्यलोक तथा वक्षस्थल से सिर तक

ऊर्ध्व लोक (स्वर्गतक)।

तात्पर्य : यहाँ पर सम्पूर्ण लोकों के तीन विभागों का उल्लेख हुआ है, कुछ लोग लोकों की संख्या चौदह मानते हैं। यहाँ इसकी भी व्याख्या हुई है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध के अन्तर्गत “समस्त कारणों के कारण” नामक पाँचवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।